GOVERNMENT OF INDIA
ARCHÆOLOGICAL SURVEY OF INDIA
CENTRAL
ARCHÆOLOGICAL
LIBRARY

ACCESSION NO 49283
CALL No. 928.54/Nir/Dik.

D.G.A. 79

निराला
की आत्मकथा

Nirālā kī ātmakathā
by
Dr. Suryaprasad Dikshit
Pub
Dulareylal Bhargava

महाप्राण 'निराला' की प्रसिद्ध रचनाएँ

जागो फिर एक बार	[काव्य]	२.५०
परिमल	[,,]	६.००
अप्सरा	[उपन्यास]	५.००
अलका	[,,]	५.००
कुल्ली भाट	[,,]	३.५०
प्रबंध-पद्म	[आलोचना]	३.५०
पंत और पल्लव	[,,]	२.००
महाभारत	[धार्मिक]	८.००
महाभारत (संक्षिप्त)	[,,]	३.००
रामायण की अंतःकथाएँ	[,,]	३.००

निराला की आत्मकथा

49283

प्रस्तोता

डॉ० सूर्य प्रसाद दीक्षित

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY, NEW DELHI.
Acc. No. 49285
Date 22.2.1971
Call No. 928.541/Nav/Dik

मूल्य : रु० १०.००
प्रथमावृत्ति : सन् १९७० ई०

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

●

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

'निराला' के जीवन तथा साहित्य
के सुधी साक्षी
डॉ० कुंवर चंद्रप्रकाशसिंहजी
को !

अनुक्रम

अथ कथामुखम्	३	८०	गढ़ाकोला में
बचपन की मारें	५	९१	छतरपुर में तीन सप्ताह
मेरी पहली ससुराल-यात्रा	१०	९२	मेरे अभिन्न महाशय
रूह की मालिश	१८	९७	साहित्यिक सन्निपात
सासुजी की बेटी	२१	९९	चपत का जवाब घूंसा
प्रवेशिका के द्वार तक	२७	१०५	अनंतर
राजा की नौकरी	३०	१०६	मैं निरर्थक पिता
हिंदी पत्नी	३७	१११	खंडित कर डाला भाग्य-अंक
स्वर्गीया प्रिया मनोहरादेवी	३९	११६	हिंदी बनाम हिंदुस्तानी
वंश-नाश	४२	१३३	अवांतर
जीवन चिरकालिक क्रंदन	४४		छायावाद की विद्रोहात्मक
मित्रवर कुल्ली	४६	१३५	काव्य-धारा में
कालांतर	६०	१४२	सरस्वती राजनीति की दासी नहीं
मेरी पहली रचना	६१	१४९	प्रयाग में !
'समन्वय', 'मतवाला' और 'रंगीला'	६४	१५३	आखिर संन्यास लिया
महिषादल में	६५	१५४	फ़ाक़ेमस्ती के दिन
कुँवर का ब्याह	७०	१६१	दिवंगता पत्नी से पुनर्मिलन
चरखा-विवाद	७७	१६३	इतिश्री
रंगमंच पर	७८	१६५	उद्धरणी
अंतराल	७९	१६७	विशिष्ट आंचलिक शब्द

सूतोऽवाच

'निराला'जी की यह आत्मकथा मुझे उनके साहित्य के सहस्राधिक पृष्ठों में बिखरी हुई मिली है। जिन दिनों मैं 'निराला का गद्य'-नामक अपना प्रबंध तैयार कर रहा था, उनके आत्म-संस्मरणों पर विचार करते हुए मेरे मस्तिष्क में अकस्मात् यह भावोदय हुआ कि इन स्फुट अंशों (वृत्तांतों एवं आत्मकथ्यों) को सुसंयोजित करके 'निराला'जी की एक आद्योपांत आत्मकथा निर्मित की जा सकती है। तब से इस सामग्री का चयन करता रहा। आज इस रूप में प्रस्तुत कर सका हूँ।

यह आत्मकथा विशुद्ध रूप से 'निराला' द्वारा विरचित है। इसकी एक भी उक्ति मेरी नहीं है। शीर्षकों का चयन भी प्रायः 'निराला'जी के साहित्य से किया गया है। केवल संकलन, समायोजन और संपादन मेरा है। आत्मकथा से संबंधित ये अंश 'निराला'जी की कविताओं, कहानियों, उपन्यासों, संस्मरणों, निबंधों और भूमिकाओं से गृहीत हैं। कहीं-कहीं उनके समर्पण, संपादकीय प्रकाशित पत्रों आदि का भी उपयोग कर लिया गया है। प्रस्तुत सामग्री मुख्य रूप से जिन रचनाओं से उद्धृत की गई है, वे हैं—कुल्ली भाट, सुकुल की बीवी, देवी, चतुरी चमार, जानकी, श्रीमती गजानंद शास्त्रिणी, शारदानंदजी महाराज और मैं, कला की रूप-रेखा, पंतजी और पल्लव, गांधीजी से बातचीत, नेहरूजी से दो बातें, प्रांतीय साहित्य-सम्मेलन, फ़ैज़ाबाद, भौन कवि, काव्य-साहित्य, श्रीनंददुलारे वाजपेयी, मेरे गीत और कला, कला के विरह में जोशी-बंधु, साहित्यिक सन्निपात, वर्तमान धर्म या साहित्यिकों तथा साहित्य-प्रेमियों से निवेदन, मनसुखा का उत्तर, छतरपुर में तीन सप्ताह, स्वामी प्रेमानंदजी, खड़ी बोली के कवि और कविता, सरोज-स्मृति तथा अणिमा, अपरा, अर्चना, आराधना, नए पत्ते, बेला, कुकुरमुत्ता, गीतगुंज, गीतिका, अनामिका, परिमल, सांध्यकाकली आदि की अन्यान्य स्फुट कृतियाँ।

मैं चाहता था, प्रत्येक उद्धरण के संदर्भ-स्थल का विधिवत् उल्लेख कर दिया जाता, पर मुझे इनमें इतना काँट-छाँट और जोड़-तोड़ बिठाना पड़ा कि इन उद्धरणों में बार-बार अप्रपञ्च क्रम आ गया है। कई परिच्छेद ऐसे हैं, जिनका हर वाक्य अलग-अलग स्थल से उद्धृत है। ऐसी स्थिति में उद्धरणों (फ़ुट नोटों) की बैशाखियों द्वारा उठाई गई यह आत्मकथा शायद रस भंग कर देती। इतना दावे के साथ कहा जा सकता है कि ये सारे कथ्य निराला-साहित्य के हैं, अतः असंदिग्ध हैं। कहीं विवश भाव से शब्दों में यत्किंचित् परिवर्तन भले ही कर दिया गया हो, पर उनका मूलार्थ प्रायः अव्याहत ही रहा है।

प्रस्तुत आत्मकथा को मैंने विषय-क्रमानुसार सुगठित करने का प्रयत्न किया

है। ये रचनाएं अपने प्रकाशन-काल के क्रम से न रक्खी जाकर विविध जीवन-वृत्तांतों के क्रम से रक्खी गई हैं। उनके जीवन की कुछ आरंभिक घटनाएं और विक्षेपावस्था की अंतिम घटनाएं स्वरचित रूप में प्राप्य नहीं हैं। यह आत्मकथा भी उनकी अन्य कई कृतियों की तरह अपरिसमाप्त है। ये रचनाएं भिन्न-भिन्न अवसरों पर लिखी गई हैं, अतः इस आत्मकथा का एक केंद्रीय रचना-काल निर्धारित नहीं किया जा सका है। इसके जो मुख्य आधार-ग्रंथ हैं, उनमें 'सांध्यकाकली' (प्रकाशन-काल १९६९) ही सबसे अंतिम कृति है। इसके प्रणयन के समय वह अपने जीवन की लगभग सीमा पार कर चुके थे। मैंने इसी रचना-काल को कथा की इतिश्री में स्थिर किया है। बीच के भी कुछ काव्योद्धरण परवर्ती हैं। इन आत्मकथ्यों से विभिन्न तथ्यों की पुष्टि होती है। यह भी स्पष्ट होता है कि 'निराला' के साहित्य का अधिकांश आत्मसंबोधित (आत्मसंवृत) है।

इस आत्मकथा के प्रकाश में मेरा यही विनम्र मत है कि 'निराला'जी के जीवन और साहित्य को उधार लिए हुए तथ्यों से न देखा जाय, बल्कि उन्हें उनकी ही दृष्टि से परखा जाय। 'निराला'जी के कृतित्व का अवगाहन करने के लिये उनके व्यक्तित्व का अंतर्दर्शन करना अनिवार्य है, और उनके व्यक्तित्व-विश्लेषण के लिये उनकी इस आत्मकथा का पारायण भी अपरिहार्य है।

'निराला'जी की इस आत्मकथा के संकलन-संपादन के पीछे कई गूढ़ अंतर्प्रेरणाएं कार्य करती रही हैं। यह भी एक विचित्र संयोग है कि मैं न केवल 'निराला'जी का सक्षेत्रीय, सजातीय, सवर्गीय और संबंधी व्यक्ति हूं, बल्कि उनका नाम-राशि भी हूं। 'निराला'जी के बचपन का नाम सुर्जपरसाद या सूर्यप्रसाद (डॉ० बच्चनसिंह के मतानुसार) जैसे अवश-भाव से मुझमें अंतर्लीन होकर यह कार्य करता रहा है।

'निराला'जी के जीवन से संबंधित मेरे पास अपने (आत्मघटित) और दूसरों से प्राप्त अनेक संस्मरण हैं, परंतु मैं यहाँ उनका उपयोग नहीं कर रहा हूं, क्योंकि बहिस्साक्ष्यों को 'आत्मकथा' में 'क्षेपक' कहा जा सकता है। फिर, इस आत्मकथा द्वारा मैं 'निराला'जी की जीवनी नहीं उपस्थित करना चाहता हूँ। यह कृति जीवनी (बायोग्राफ़ी) न होकर उनकी आत्मकथा (ऑटोबॉयग्राफ़ी) है, जिसे वस्तुतः उनके जीवन के सर्वाधिक प्रामाणिक दस्तावेज़ के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

प्रस्तुत कृति का कोई भी अध्याय आधार-ग्रंथों से अविकल रूप में संकलित नहीं किया गया है। ये कथांश संक्षिप्त उद्धरणों के रूप में उपलब्ध हैं। अस्तु, कुछ घटनाएं छूट गई हैं, कहीं-कहीं 'लिंक' टूट गया है, लेकिन 'ईंट-रोड़े से जुड़ा हुआ यह कुनबा निराला की कहानी, उन्हीं की ज़बानी' कह ले जाता है—एक निराले ढंग से !

इस आत्मकथा के लेखन-काल में मुझे जिन महानुभावों से सहयोग मिला है,

उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करना मेरा पुनीत कर्तव्य है। 'निराला'जी के जीवन-वृत्तांतों को सुसंयोजित करने में मुझे विद्वद्वर डॉ० रामविलास शर्मा की कृति 'निराला' की साहित्य-साधना (प्रथम भाग) से बड़े उपयोगी सूत्र प्राप्त हुए हैं। 'निराला'जी के जीवन तथा व्यक्तित्व के संबंध में मुझे उक्त कृति सबसे प्रामाणिक प्रतीत हुई है। मैं तो इसे 'निराला-पुराण' मानता हूँ। पर, उनके निष्कर्षों को अंतिम और अन्यतम स्वीकार करते हुए भी मैं 'निराला' के आत्मकथ्यों को यथावत् रख रहा रहा हूँ। डॉ० शर्माजी के मतानुसार—'"निराला' ने अपने बारे में बहुत कुछ लिखा है···पर सदा सत्य नहीं है···।" (पृष्ठ ५८१) मैंने 'निराला'जी के हर कथन को तथैव (इदमित्थं) स्वीकार किया है—असंदिग्ध और अतर्क्य रूप में ! आत्मकथा तयार करते हुए उनके तथ्यातथ्य-विमर्श का अधिकार मुझे नहीं था। मेरी अपनी सीमाएँ और विवशताएँ रही हैं। अस्तु, डॉ० शर्मा के निर्देशों से मैं उपकृत हुआ हूँ, तदर्थ आभार।

इस कार्य के लिये मुझे श्रद्धेय कुँवर साहब से बड़ा प्रोत्साहन मिला है। वह 'निराला'जी के परम अंतरंग रहे हैं। 'निराला'-साहित्य में उनका दशाधिक बार उल्लेख हुआ है। मैं 'निराला'जी के आत्मज श्रीरामकृष्णजी तथा उनके प्रकाशकों के औदार्य के प्रति भी बड़ा अनुगृहीत हूँ। मुद्रण-कार्य में मेरे अग्रज श्रद्धेय श्रीदेवेश दीक्षित प्रेरणा-स्रोत रहे हैं। लेखन-कार्य में मुझे अपने दो शोध-छात्रों— श्रीनरेंद्र शर्मा और प्रकाशजी से बड़ा सहयोग मिला है। पुस्तक की प्रकाशन-व्यवस्था का श्रेय श्रीदुलारेलालजी भार्गव के 'दक्षिण यशोवर्द्धन कर' को है। भार्गवजी तथा उनकी प्रकाशन-संस्था—'गंगा-पुस्तकमाला' का 'निराला'जी के जीवन से घनिष्ठ संबंध रहा है। इसे सोत्साह प्रकाशित कर श्रद्धेय भार्गवजी ने उसी पवित्र परंपरा का निर्वाह किया है। इस उपलक्ष में उन्हें मेरा साधुवाद !

अंत में, 'निराला'जी के प्रेमी पाठकों के समक्ष उनकी यह आत्मकथा प्रस्तुत करते हुए मैं आशा करता हूँ, 'निराला'जी के इन अंतस्साक्ष्यों तथा आत्मकथ्यों के आधार पर उनके व्यक्तित्व तथा कृतित्व के पुनर्मूल्यांकन का शुभ सूत्रपात होगा, और प्रस्तुत कृति 'निराला'जी की निजी नई रचना के रूप में अंगीकार की जायगी। इस 'निराला-स्मृति' का सूत या व्यास रूप में प्रस्तुतीकरण करते हुए मेरा यही अनुमेय है कि—

'कह रहा हूँ जो कथा,
बज रही उसकी व्यथा !' (निराला : गीतिका)

तथास्तु !

'सरस्वती-सदन'
बन्नावाँ, रायबरेली
नवविहान, १९७०

प्रस्तोता—
सूर्यप्रसाद दीक्षित

'दुख ही जीवन की कथा रही ;
क्या कहूँ, आज जो नहीं कही ।'

—'निराला'

अथ कथामुखम्

मैं कान्यकुब्ज ब्राह्मण, डाकखाना चमियानी, मौजा गढ़ाकोला, ज़िला उन्नाव का क़दीमी बाशिंदा। मेरा, नहीं, मेरे पिताजी का, बल्कि उनके भी पूर्वजों का वहीं पुश्तैनी मकान है। मेरा उपनाम 'निराला' 'मतवाला' के अनुप्रास पर आया था।

उम्र ४५ वर्ष, शरीर पाँच फ़ीट, साढ़े चार इंच लंबा; छाती ३९ इंच चौड़ी। हृष्ट पुष्टांग न तु स्थूलकाय! अक्षर हूँ, न साक्षर, और न निरक्षर! सगा यानी माता, पिता, भाई, बहन, चाचा, चाची, स्त्री संसार में कोई नहीं। सब थे, किंतु १९१८ के इन्फ्लुएंज़ा में सब गुज़र गए।

अपने राम के लकड़दादा के लकड़दादा के लकड़दादा राजा बीरबल त्रिपाठी अकबर के चेले थे। तब से वंश में त्रिपल लकड़दादा का प्रभाव—महापुरुषत्व का असर है।

मेरे पिता-पितृव्य स्टेट (महिषादल) में फ़ौजी अफ़सर थे। गण्यमान्य थे। मेरा जन्म वहीं हुआ, शिक्षा वहीं मिली।

मैं एक साधारण विज्ञ मनुष्य हूँ। जीवन का लक्ष्य निरे बाल्यकाल से है—परम पद-लाभ।

मैं अगर हिंदी के मैदान से खदेड़ा हुआ मनुष्य हूँ, तो राष्ट्र-भाषा के स्वयंवर में महारथियों के मुक़ाबले में अक्षय शब्दास्त्र-शिक्षा के बल पर लक्ष्य का भेद करनेवाला भी।

लिखते जो श्रम किया, उसका पारितोषिक उपेक्षित भाषा-साहित्य के लोग नहीं वितरित कर सके।

अंडे तोड़कर निकलने से पहले खड़खड़ाते हुए जिन्होंने मुझ पर आवाज़ें कसीं, उनके सम्राटों द्वारा अनधिकृत साहित्य की स्वर्ग-भूमि से मैंने हीरे-मोती उन्हें दान में दिए हैं।

कलंक मुझे बहुत मिल चुका है, पर गर्द सूर्य तक नहीं पहुँचती, नीचे ही वालों पर रहती है।

मुझे हिंदी का मुख देखना अच्छा लगा। मेरे प्रति बड़े-बड़े अधिकांश साहित्यिकों की विमुखता का यही कारण है—मैंने सदैव हिंदी का मुख देखा है।

मैं जीवन के पीछे दौड़ा, जीव के पीछे नहीं। जीवन के पीछे चलने-वाला जीवन के रहस्य से अनभिज्ञ नहीं होता।

मैं एक स्वतंत्र साहित्यिक, एक पहुँचा दार्शनिक, जिससे आगे और नहीं, या जिससे ज्यादा और बन नहीं पड़ता।

मुझे किसी की आलोचना से, किसी की तारीफ़ से आगे आने की अपेक्षा नहीं रही। मैं खुद तमाम मुश्किलों को झेलता हुआ, अड़चनों को पार करता हुआ सामने आया हूँ।

मैं शुरू से विरोध के सीधे रास्ते चलता रहा हूँ।

मैं ईश्वर, सौंदर्य, वैभव और विलास का कवि हूँ, फिर क्रांतिकारी !

मैं अलक्षित हूँ। मेरी क़द्र नहीं हुई है। यही 'हिंदी का स्नेहोपहार है। मैं पढ़ा जा चुका पत्र न्यस्त !

बचपन की मारें

मैं बचपन में आजादी-पसंद था। दबाव नहीं सह सकता था। खास तौर से वह दबाव, जिसकी वजह न मिलती हो। एक घटना, अप्रासंगिक न होगी, कहूँ। मैं आठ साल का था। पिताजी जनेऊ करने गाँव (गढ़ाकोला) आए थे। गाँव के ताल्लुक़ेदार पं० भगवानदीनजी दुबे थे। उन्होंने एक पतुरिया बैठाई थी। उससे एक लड़की और तीन लड़के हुए थे। जब की बात है, तब पं० भगवानदीनजी गुजर चुके थे। ताल्लुक़ा उनकी धर्म-पत्नी से पैदा हुए पुत्र के नाम था। एकाएक मर गए थे, इसलिये पतुरिया को और उससे पैदा हुए लड़कों को अचल संपत्ति कुछ नहीं दे जा सके थे।

बाद को वसूली में पतुरिया के लड़के अड़चन डालते थे, इसलिये उनके अधिकारी भाई ने खाने के लिये उन्हें कुछ बाग़ात और मातहत खेत दिए थे। मजे से गुजर होता था। पतुरिया थी। उसके लड़कों के नाम हैं—शमशेरबहादुर, जंगबहादुर, फ़तहबहादुर और लड़की का नाम परागा।

सबसे छोटे फ़तहबहादुर मुझसे आठ साल बड़े थे। चौधरी पं० भगवानदीनजी ने सबसे बड़े शमशेरबहादुर को बड़े प्रयत्न से शिक्षा दिलाई थी। मैंने उनका सितार बाद के जीवन में सुना है। वह वाक्य प्रशंसा के साथ मुझे अब तक याद है। शमशेर का उन्होंने जनेऊ भी किया था, और कहते हैं, जनेऊ-भोर के ब्रह्मभोज में अपनी ताल्लुक़ेदारी के और प्रभाव में आए और-और ब्राह्मणों को आमंत्रित करके खिलाया भी था। इसके बाद शमशेर का एक विवाह भी किया था। लड़की खालिस ब्राह्मण-घर की नहीं, बाला-ब्राह्मण विधवा मिली, उससे किया। तब से यह परिवार अपने को ब्राह्मण समझता है। जरूरत पड़ने पर ये लोग शमशेरबहादुर दुबे, जंगबहादुर दुबे लिखकर सही करते हैं। अपनी मा पतुरिया को उसी तरह भोजन देते थे, जैसे एक हिंदू यवनी को देता।

इतने पर भी ताल्लुक़ेदार साहब की आँखें मूँदने के साथ-साथ गाँव

के लोगों ने इनकी तरफ़ से भी मुँह फेर लिया। इनके यहाँ का पान-पानी गाँव तथा खेड़े के चारो ओर बात-की-बात में बंद हो गया।

जब मैं गया, तब ये इसी अचल अवस्था में थे। प्रतिशोध की ताड़ना से इन्होंने गाँव तथा खेड़े के हर घर का इतिहास कंठाग्र कर रक्खा था। और, अधिकारी-अनधिकारी, जो भी इनसे भली तरह बातें करता था, उसे घेरकर घंटों सुनाते रहते थे।

गाँव आने पर इसी खानदान का मुझ पर सबसे ज्यादा प्रभाव पड़ा। यही मुझे आदर्श आदमी नजर आए—चेहरे-मोहरे के, बातचीत के, उठक-बैठक के। तब मेरा जनेऊ नहीं हुआ था, इसलिये खान-पान की रोक-थाम न थी। पतुरिया मुझसे स्नेह करती थी, खिलाती थी, और लतीफ़े सुनाती थी। नए ढंग के कुछ दादरे और ग़जलें सिखाई थीं।

एक दिन उनके छोटे लड़के ने, जिनका मुझ पर ज्यादा प्रभाव था, कहा—"तुम्हारे बड़े चाचा हमारे यहाँ नौकर थे। हमारे घोड़े ने उनका हाथ काटकर बेकाम कर दिया था, तब हमने माफ़ी दी थी। वह जमीन आज भी तुम्हारी चाची जुताया करती हैं।"

यह बात सच है, लेकिन ताल्लुक़ेदार भगवानदीन ने जब माफ़ी दी थी, तब उनके यह पुत्र-रत्न भूमिष्ठ नहीं हुए थे। मैं तब यह इतिहास नहीं जानता था। मुझे मालूम पड़ा, यह सब इन्होंने किया है।

इसके बाद कहा—"अभी तुम हमारे यहाँ का खाते हो, जब जनेऊ हो जायगा, न खाओगे।"

मैंने खुदबखुद सोचा—"यह अन्याय है। अगर आज खाते हैं, तो कल क्यों न खाएँगे?"

परागा बहन ने कहा—"बदलू सुकुल के यहाँ महुए की लप्सी खाओगे, हमारे यहाँ हलुआ नहीं।"

मुझे झेंप मालूम दी। मैं हलुआ छोड़कर लप्सी नहीं खाता, मन में कहा। कुछ दिन बाद जनेऊ हुआ। अब तक इस घर के आदमी-आदमी ने बग़ावत के लिये मुझे तैयार कर लिया था। मैं प्रतिज्ञा कर चुका था कि जनेऊ चाहे तीन बार हो, लेकिन मैं यहाँ भोजन न छोड़ूँगा। इनकी

बातें मुझे संगत मालूम देती थीं। अगर गाँववाले कभी इनके यहाँ खाते थे, तो अब क्यों नहीं खाते ?"

जनेऊ हो जाने के दूसरे रोज पिताजी ने एकांत में बुलाकर मुझसे कहा—"अब आज से, खबरदार, पतुरिया के घर का कुछ खाना-पीना मत।"

मैंने कहा—"पतुरिया का छुआ तो उनके लड़के भी नहीं खाते-पीते।" पिताजी ने कुछ समझाकर कहा होता, तो मेरी समझ में बात आई होती, उन्होंने डाँटकर कहा—"उसके हाथ का भी मत खाना।"

मैंने पूछा—"जब ताल्लुक़ेदार थे, तब आप लोग उनका छुआ खाते थे ?"

पिताजी ने होंठ चबाकर कहा—"हम जैसा कहते हैं, कर।"

यहीं मैं कमजोर था। दिल से बात न मानी। जनेऊ के बाद दो-तीन दिन कहीं न गया, जनेऊ चढ़ाता-उतारता रहा। दिन-भर में कितने जनेऊ बदलने पड़ते थे। जनेऊ के बाद दो दिन पतुरिया के घर न गया; लोगों की धारणा बँध गई, मैं रोक दिया गया, और बात मैंने मान ली।

तीसरे या चौथे दिन पं० फ़तहबहादुर दुबे कुएँ पर नहाने का डौल कर रहे थे, एकाएक मैं पहुँचा। मुझे देखकर वह मुस्किराए। मेरे दिल में जैसे तेज तीर चुभा। बड़ा अपमान मालूम दिया। मैंने उनके पास पहुँच-कर कहा—"भैया, पानी पिला दीजिए।"

भैया प्रसन्न हो गए। डोल से लोटे में पानी लेकर मुझे पिलाने लगे। पिलाते वक़्त उन्हें गर्व का अनुभव हो रहा था। मुझे भी खुशी थी, जैसे कोई क़िला तोड़ा हो। उन्होंने गाँव के और लोगों को देखकर अपने ब्राह्मणत्व का गर्व किया था, मैंने अपनी प्रतिज्ञा-रक्षा का।

जिन पर भैया फ़तहबहादुर ने फ़तह पाई थी, उनमें भी सिर उठाने का हौसला कम न था। वे पिताजी के पास गए, और सिर उठाकर कहा—"आपका लड़का सबके सामने पतुरिया के छोटे लड़के का भरा पानी उन्हीं के लोटे से पी रहा था। अभी नादान है, इसलिये इस दफ़ा माफ़ किए देते हैं; फिर अगर ऐसी हरकत करते देखा गया, तो हमें लाचार होकर आपसे व्यवहार तोड़ना होगा।"

पिताजी पहले आज्ञा दे चुके थे, फिर ब्राह्मणों ने बात सभ्य ढंग से कही थी, पिताजी का क्रोध सप्तम सोपान पर पहुँचा। एक तो सिपाही आदमी, फिर हृष्ट-पुष्ट, इस पर व्यक्तिगत और जाति-गत अपमान! कहा है—"सबसे अधिक जाति-अपमाना।" जाते ही मुझे पकड़कर फ़ौजी प्रहार जारी कर दिया। मारते वक़्त पिताजी इतने तन्मय हो जाते थे कि उन्हें भूल जाता कि दो विवाह के बाद पाए हुए इकलौते पुत्र को मार रहे हैं। मैं भी, स्वभाव न बदल पाने के कारण, मार खाने का आदी हो गया था। चार-पाँच साल की उम्र से अब तक एक ही प्रकार का प्रहार पाते-पाते सहनशील भी हो गया था, और प्रहार की हद भी मालूम हो गई थी।

जब पिताजी के बिजली के हाथ छुट रहे थे, मैं चिल्लाता हुआ उनकी पहले की मारें याद कर रहा था—"एक दफ़ा जाड़े के दिनों में रात आठ बजे मैंने बगल की बाड़ी में पाखाने की हाजत रफ़ा की, और योरपियनों के काग़ज़ का काम बैंगन के पत्तों से लिया, फिर भोजन के लिये रसोई जाना ही चाहता था कि भाभी ने रोक दिया, उन्होंने झरोखे से मुझे देख लिया था। पिताजी से यथातथ्य कह दिया। पिताजी पहले गरजे, फिर एक हाथ से मेरी बाँह पकड़कर टाँग लिया, और ताल की ओर ले चले उसी तरह टाँगे हुए। वहाँ उसी तरह पकड़े हुए डुबा-डुबाकर नहलाने लगे, 'सौंचता जा, सौंचता जा' कहते हुए। जब अपनी इच्छा-भर नहला चुके, तब प्रहार के ताप से जाड़ा छुटाने लगे।

याद आया—"एक बार एकांत में मैंने पिताजी को सलाह दी थी—'तुम्हारे मातहत इतने सिपाही हैं, तुम इस राजा को लूट क्यों नहीं लेते?' पिता ने सोचा, यह किसी दुश्मन की सिखाई बात है, जो उनकी नौकरी लेना चाहता है। मुझे मार-मारकर अपने दुश्मन का भूत उतारते हुए पूछने लगे कि किसने सिखलाया है? मैं किसका नाम बतलाता, वह उद्‌भावना मेरी ही थी। मैं जितना ही कहता था, यह बात मेरी ही सोची हुई थी, पिताजी उतना ही संदेह करते और मार-मारकर पूछते जाते थे। मैं कुछ देर बाद बेहोश हो गया था।"

चाँटे की ताल-ताल पर पिताजी क़बूल करा रहे थे, फिर तो मैं

पतुरिया के यहाँ का पानी न पिऊँगा, मैं स्वीकार कर रहा था। किसी तरह छुट्टी मिली।

दो-तीन दिन का समय दर्द अच्छा होने में लगा। एक दिन मैं बाहर निकला कि दुर्भाग्य से फिर वैसा ही प्रकरण आ पड़ा। गाँव के मुखिया क्रोध से भरे हुए, गाँव के लोगों की रक्षा के विचार से, गए, और गंभीर होकर नाम लेते हुए कहा—"क्या तुम दूसरों का धर्म लेना चाहते हो? आज तुम्हारा लड़का पतुरिया के लड़के से ले-लेकर भूने चने चबा रहा था। आज से गाँव के ब्राह्मणों में तुम्हारा व्यवहार बंद है।"

ओज की मात्रा पिताजी में उनसे अधिक थी। फिर मुखिया ने ये बातें डाँट के साथ कही थीं। व्यक्तिगत बात को व्यक्तिगत रूप देते हुए उन्होंने कहा—"तू हमारा पानी बंद करेगा? तू पासी का है, गाँव में जा और पूछ, तेरी लड़की पटने में एक-दो-तीन-चार, एक-दो-तीन-चार कर रही है—हम अपनी आँखों देख आए हैं। माना कि चौधरी भगवानदीन का काम बेजा था, लेकिन उनके सामने कहते। नहीं, जब तक वह जिए, इन्हीं लड़कों की (अंग विशेष का उल्लेख कर कहा) धो-धोकर पीते रहे, अब सब छंगे के बने फिरते हो? शहर में होते तो देखते हम, कितने आदमियों का बंबे का पानी और डॉक्टर की दवा छुड़ाते हो। यहाँ क्या नाम के करने को कौन-सा काम और गाने को छीताहरन।"

मुखिया का थूक सूख गया। विशेष अस्वस्थ हों जैसे, धीरे-धीरे लौटे।

पिताजी ने गंभीर स्नेह-स्वर से पुकारा—"अरे ये मुखिया, तमाकू खाए जाओ।"

मेरी पहली ससुराल-यात्रा

वंश-मर्यादा की रक्षा के लिये विवाह बचपन में हो गया था। मेरी शादी ज्योतिष-शास्त्रानुसार नहीं बनती थी। मैं मंगली था। ससुरजी* इनकार कर रहे थे, लेकिन ज्योतिषी गिरिजादत्त त्रिपाठी के पूज्य पिता वहाँ के बृहस्पति थे। सब उन्हें मानते थे। उन पर सबकी श्रद्धा थी, न-जाने किस तरह मनाकर मेरे ससुरजी को विवाह करने के लिये समझाया। कहा—"विवाह बहुत अच्छा है। अगर लड़की को कुछ हो जायगा, तो बुरा नहीं। फिर जहाँ लड़का मंगली है, वहाँ लड़की राक्षस है। पटरी अच्छी बैठती है।"

मेरे पिताजी ने उनकी खुशामद की होगी, संदेह नहीं। कारण, मेरे ससुरजी की लड़की उनकी पुत्र-वधू हो, कई साल से उनका ध्यान था, मैं जानता था।

मैंने सोलहवाँ पार किया। याद है, एक दिन पं० रामगुलाम ने पिताजी से कहा था—"लड़के का कंठ फूट आया, बगलें निकल आईं, मसें भीगने लगीं, अब बबुआ नहीं है, गौना कर दो; हो भी तो हाथी गया है। लड़ता है, सुनते हैं।"

"हाँ।" कहकर पिताजी चिंता-मग्न हो गए थे।

इसी तरह, जब गौना लेने गए, श्रीमतीजी तेरहवाँ पार कर चुकी थीं—कुछ दिन हुए थे। उनकी किसी नानी ने कहा था उनकी अम्मा से—मैं वहीं था—हम दोनो की गाँठ जोड़कर कौन एक पूजा की जा रही थी—मदनदेव की अवश्य नहीं थी। उन्होंने कहा था—"दामाद जवान, बिटिया जवान; परदेस ले जाते हैं, तो ले जाने दो।"

गौना हुआ। बड़ी बिपत। गाँव में प्लेग। लोग बाग़ों में पड़े। हमारा एक बाग़ गाँव के क़रीब है। प्लेग का अड्डा होता है—लोग वहाँ झोपड़े डालते हैं। हम लोग बंगाल से आए, उसी दिन लोग निकलने

---

* पं० रामगुलाम दुबे।

लगे। आखिर एक महुए के नीचे दो झोपड़े डलवाकर पिताजी मुझे और कुछ भैयाचार-नातेदारों को लेकर गौना लेने चले।

जेठ के दिन। इससे पहले यू० पी० की लू नहीं खाई थी। खैर, गौना हुआ, और एक झोपड़े में एक रात हम लोग क़ैद किए गए। जो बातें नहीं सोची थीं, श्रीमतीजी के स्पर्श-मात्र से वे मस्तिष्क में आने लगीं। प्रौढ़ता के अंत तक उनसे अधिक प्रौढ़ बातें नहीं आतीं। खैर, हम पूरे जवान हैं, हम दोनो समझे।

पाँचवें दिन ससुरजी बिदा कराने आए। ससुरजी इसलिये भी आए कि गाँव का पानी नहीं पिएँगे, शाम तक बिदा करा ले जाएँगे। पिताजी को बहुत बुरा लगा। वह बंगाल से उतना रुपया खर्च करके आए थे। पाँच दिन के लिये नहीं। ससुरजी सुबह की गाड़ी से आए थे। मैं रात का जगा था, सो रहा था। बातचीत नहीं सुनी; बाद को गाँव के एक भैया से सुनी। मेरी जब आँख खुली, तब ससुरजी अपनी लड़की को बिदा कराके ले गए थे। सुना, प्लेग के भय से वह लड़की को बिदा कराने आए थे।

पिताजी ने इस पर बहुत फटकारा। कहा, यह भय हमारे लड़के के लिये आपको नहीं हुआ? अगर ऐसे आपके मनोभाव हैं, तो हम दूसरा विवाह कर लेंगे।

पिताजी के तर्क-पूर्ण कथन का, मुमकिन ससुरजी पर प्रभाव पड़ता, लेकिन ससुरजी थे बहरे। वह अपनी कहते थे, और देख रहे थे कि बिदाई की तैयारी हो रही है या नहीं। उधर ससुरजी की पुत्री अपने पिता और ससुर के कथोपकथन को एकनिष्ठ होकर सुन रही थी। पिताजी पुत्र की दूसरी शादी कर लेंगे, प्रभाव अनुमेय है। झल्लाहट में पिताजी ने बिदा कर दिया, और स्टेशन पहुँचा देने को बहल बुला दी।

दूसरे दिन नाई आया सासुजी की लंबी चिट्ठी लेकर। 'क्षमा' शब्द का अतिशय प्रयोग। ससुरजी कम सुनते हैं, आज्ञा-पालन में त्रुटि हुई। बुलाया। 'गवहीं' पहले नहीं ली, अब ले लें। बड़ी दीनता! यह भी लिखा था—"मेरी दो दाँत की लड़की, उसके सामने दूसरे विवाह की बात!"

पिताजी पिघले, मुझसे बोले—"ससुराल जाव। लेकिन यहाँ से तिगुना खाना।"

मैंने कहा—"घी और बादाम तिगुने करा लूँगा। बेदाना तो वहाँ मिलते नहीं, अन्यथा शरबत में तीन रुपए लग जाते रोज।"

पिताजी ने कहा—"रूह, रूह की मालिश करना रोज, होश दुरुस्त हो जायँगे!"

शाम चार बजेवाली गाड़ी से चलने की तैयारी हो गई। दुपहर ढलते नौकर बिस्तर-बॉक्स लेकर भेज दिया गया। मैं पिताजी के उपदेश धारण कर ढाई बजे के क़रीब रवाना हुआ। ठाट बंगाली; धोती, शर्ट, जूता, छाता। आँख में भी बंगाल का पानी, बाक़ी देश जंगल या रेगिस्तान दिखते थे।

बंगालियों की तरह मैं भी मानता था, आर्य बंगाल पहुँचकर सही माने में सभ्य हुए, विशेषतः अँगरेज़ों के आने के बाद से। महुए की छाँह और तर किए झोपड़े के अंदर यू० पी० की गर्मी का हिसाब न लगता था। बाहर खाई पार करते ही लू का ऐसा झोंका आया कि एक साथ कुंडलिनी जैसे जग गई।

फिर भी पैर पीछे नहीं पड़े; बंगाल की वीरता और प्रेमासक्ति बैक कर रही थी। पैर उठाकर सामने रखते ही लीक के खड्ड में डेढ़ हाथ खाले गया, और मैं गुड़ीगुड़ंता के डंडे की तरह गुड़ा; लेकिन स्पोर्टस् मैन था, झड़बेर की झाड़ी तक पहुँचते-पहुँचते अड़ गया। देह गर्द-बर्द हो गई। मुँह में क्रीम लग गया था, घाव पर जैसे आयडोफ़ार्म पड़ा।

लेकिन धन्यवाद है सूरदास को, मुझे लज्जित होने से बचा लिया; कलकत्ते से 'बिल्वमंगल' नाटक देखकर आया था—दूसरी जीवनियाँ भी पढ़ी थीं, लाश पकड़कर नदी पार करने और साँप की पूँछ पकड़कर मंजिल चढ़ने के मुक़ाबिले यह अति तुच्छ था, फिर वहाँ वेश्या, यहाँ धर्म-पत्नी। आगे बढ़ा। एक झोंका और आया, मालूम हुआ, इस देश में धूप से हवा में गर्मी ज्यादा है। फिर भी हवा के प्रतिकूल चलना ही होगा। कड़ाई से पैर आगे बढ़ाया, ठकाका जूते ने काँकर से धोके से ठोकर ली, और मुँह फैला दिया। सोचा, बॉक्स में एक जोड़ा और है नया। तसल्ली

हुई, फिर आगे बढ़ा। एक झोका और आया। अब के छाता उलटकर दूसरी तरफ़ तना। हवा के रुख पर करके, सुधारकर तोड़ लिया।

आगे लोन नदी आई, जो आठ महीने सूखी रहती है, और जिसके किनारे संसार के आधे बेर-बबूल हैं। शायद इसी कारण इस प्रांत का नाम कभी बनौधा था—"बारह कुँवर बनौधे केर।" आज इसी भाग का नाम बैसवाड़ा है। इस समय बैस राजाओं तथा ताल्लुक़ेदारों की छोटी-छोटी रियासतें यहाँ से अवध तक दूर-दूर फैली हुई हैं, और कई ज़िलों में भाषा-साम्य भी प्राप्त होता है, फिर भी बैसों की मुख्य राजधानी यही उल्लिखित पवित्र कान्यकुब्ज भूमि है। आज आमों के विशालकाय उपवन एक दूसरे से सटे कोसों तक फैलते चले गए हैं। यदि इस विस्तृत भू-खंड को शत-योजनानत एक रम्य कानन कहें, तो अत्युक्ति नहीं होती। उपवन तथा जनाकीर्ण जनपद मुसलमानों के राज्य-काल में भी समृद्ध थे, देखने पर मालूम हो जाता है। गंगा की उपजाऊ तट-भूमि, धौत-धवल मंदर-तुल्य मंदिर, कारुकार्य-खचित द्वार; दिव्य-भवन; देव-वाणी तथा देव-सरि का आर्य-भावानुसार सहयोग, खुली गोचर भूमि; सुखद स्पर्श मंद-मंद पवन-वाह, अनिंद्य हिंदी के मँजे कंठ से निकले ग्राम-गीत किसी भी दर्शक भ्रमणकारी को तत्काल मुग्ध कर लेंगे। स्वतंत्रता-प्रेम भी अधिक था; क्योंकि छोटी-सी जगह में बारह कुँवर थे। धोती कोछे-दार बंगाली पहनी थी। एक जगह उड़ी, और बेर की बाँहों से आलिं-गन किया, न अब छोड़े, न तब;—गुलों से खार बेहतर हैं, जो दामन थाम लेते हैं," याद तो आया, पर बड़ा गुस्सा लगा। सैकड़ों काँटे चुभे हुए। धोती छप्पनछुरी हो रही थी। छुड़ाते नहीं बनता था। देर हो रही थी। आखिर मुट्ठी से कोछे को पकड़कर खींचा। धोती में सहस्र-धार गंगा बन गई, उधर बेर सहस्र-विजय-ध्वज।

धोती क़ीमती थी—शांतिपुरी। खास ससुराल के लिये ली गई थी, जैसे प्रसिद्ध लेखक खास पत्र के लिये लेख लिखते हैं। सांत्वना हुई कि कई और हैं। नदी-गर्भ से ऊपर आया। कुछ दूर पर बेहटा-श्मशान मिला। दो ही मील पर देखा, दुर्दशा हो गई है, जैसे धूल का समंदर नहाकर निकला हूँ। स्टेशन मील-भर रह गया था, गाड़ी का अर्राटा सुन

पड़ा। अपने आप पैर दौड़ने लगे। मन ने बहुत कहा, बड़ी अभद्रता है। लेकिन जैसे पैरों के भी जबान लग गई हो, बोले—"अभी भद्रता कुछ बाक़ी भी रह गई है? घर लौटकर जाओगे, जिंदगी-भर गाँववाले हँसेंगे—बाबू बनकर ससुराल चले थे। हजार-हजार सपाटे का उठान तो देखो।" कहते पैर बेतहाशा उठ रहे थे। छाता बग़ल में, हाथ में जूते। सामने मील-भर का ऊसर। चार बजे की चटकती धूप। स्टेशन देख पड़ने लगा। गाड़ी प्लेटफ़ार्म पर आ गई। दौड़ तेज हुई। लंबा मैदान। गाड़ी पानी ले रही है। अभी छ फ़र्लांग और हैं। भूभुल में पैर जले जा रहे हैं, लेकिन रफ़्तार धीमी नहीं, बढ़ाई भी नहीं जा सकती, कलेजा मुँह को आता हुआ। एंजिन पानी ले चुका, लौट रहा है, अभी चार फ़र्लांग हैं। और तेज हो—नहीं हो सकने। बदन लत्ता। जान पड़ता है, गिर जाऊँगा।

ग़नीमत हुई। मैं पहुँचा। स्टेशन में एक प्लेटफ़ार्म है, उस तरफ़ उससे गाड़ी लगी हुई। इधर से ही चढ़े। भीतर जाने के साथ इतनी गर्मी मालूम दी कि जान पर आ बनी। कुछ देर में होश दुरुस्त हुए। गाड़ी चली। ठंडे होकर कपड़े बदले।

पाँचवें स्टेशन डलमऊ में उतरा, तब सूरज छिप चुका था, लेकिन इतना उजाला कि अच्छी तरह मुँह दिखे। चले। गेट पर टिकट-कलेक्टर के पास एक आदमी खड़ा था।

'दलमऊ या डलमऊ' रायबरेली जिले का प्रसिद्ध क़स्बा है। यह रायबरेली का एक सब-डिवीजन भी है। शहर दाहनी तरफ़ गंगा के बिलकुल किनारे से उठा हुआ; एक छोटी पहाड़ी की तरह के काफ़ी ऊँचे मिट्टी के स्तूप पर चारो ओर से दो मील तक दृढ़ दीवार से घिरा एक प्राचीन दुर्ग है; जो इस समय गतगौरव के समाधि-रूप में परिणत है। प्रचलित लोक-कथाओं के अनुसार इस पर गोप राजाओं का अधिकार था। ये भी कान्यकुब्जेश्वर के मातहत सरदारों में थे। आज गोप-वंश अपना यादव-क्षत्रिय के रूप से परिचय देता हुआ इस क़िले को प्राचीन इतिहास का एक केंद्र मानता है। बाद को यह क़िला मुसलमानों के अधिकार में आया। पश्चात् अँगरेजों ने इस पर क़ब्ज़ा किया। इसकी इमारतें इस समय नष्ट हो चुकी हैं। फिर भी परिचय के लिये यथेष्ट

चिह्न वर्तमान हैं। इसके ऊपर से दूर तक फैला हुआ गंगा का दृश्य, उतरकर जल और स्थल से मिला हुआ आकाश बड़ा सुहावना मालूम देता है। क़िले के यौवन-काल में शहर की बड़ी आबादी थी। गंगा के किनारे होने की वजह से व्यवसाय का भी बहुत बड़ा केंद्र था। पहले रेल तथा अच्छे मार्ग न होने से भारत का अधिकांश व्यवसाय जल-पथों से होता था। इनमें गंगा का पथ सर्व-श्रेष्ठ था। प्राचीन उक्ति के अनुसार यह स्थान दालिभ्य-क्षेत्र है। दालिभ्य ऋषि ने वहीं तपस्या की थी। बाद को दालिभ्य अपभ्रंश शायद दलमऊ हो गया, फिर अँगरेज़ी डलमऊ बना।

टिकट देकर निकलते ही मुझसे पूछा—"कहाँ जाइएगा ?"

मैंने कहा—"शेरअंदाज़पूर।"

"आइए, हमारा एक्का है," कहकर उसने एक्केवान को पुकारा, और ग़ौर से घूरते हुए पूछा—"किनके यहाँ ?"

मैंने अपने ससुरजी का नाम लिया। उसे एक बार देखकर दोबारा नहीं देखा। कारण, वह मेरा आदर्श नहीं था, मुझसे दो इंच छोटा था, और बदन में भी हल्का।

मैं एक्केवाले के साथ एक्के पर बैठा। वह जवान कुछ देर तक पैसें-जर देखता रहा, फिर उसी एक्के पर आकर बैठा। चुपचाप बैठा देखता रहा। तब मैं नहीं समझ सका, अब जानता हूँ—वैसी शुभ दृष्टि सुंदरी-से-सुंदरी पर पड़ती है, जिसकी बाढ़ का पानी रत्ती-भर नहीं घटा।

उस मनुष्य ने मुझसे कोई प्रश्न नहीं किया, केवल अपने भाव में था। मुझे बोलने की कोई आवश्यकता न थी। एक्का चला, क़स्बे में आकर मेरे ससुरजी के दरवाज़े खड़ा हुआ। वह आदमी चौराहे पर उतर गया था। उतरते एक्केवाले से कुछ कहा था, मैंने सुना नहीं।

जब मैं किराया देने लगा, एक्केवाले ने कहा—"नंबरदार ने मना किया है।"

"हम किसी नंबरदार को नहीं जानते। किराया लेना होगा, पहले कह दिया होता।"

एक्केवाले ने हाथ तो बढ़ाया, लेकिन कहा—"भैया, उन्हें मालूम होगा, तो मेरी नौकरी न रहेगी।"

मैं समझ गया, पैसे जेब में रक्खेगा। अब ससुराल के लोग आ गए। मैं प्रणाम-नमस्कारादि के लिये तैयार हुआ।

पैर छूकर मैं एक ग़लीचा बिछे पलंग पर बैठा।

बैठा हुआ, फाटक के भीतर, घर के बाहरवाले आँगन में लगा चिल-वल का पेड़ देखता रहा। एकाएक खयाल गया, इसकी डाल पर सावन में झूला पड़ता होगा, उस पर बैठी हुई भरे आकाश के सजल बादलों को देख-देखकर जो सावन, मल्हार, कजली और बारहमासियाँ गाती हुई पैंगों में झूलती है, उसे मैं पहचानता हूँ। उसके कुल गीतों का इधर मैं ही लक्ष्य रहा हूँगा।

इसी समय भीतर से एक नवीना-कंठ की खिलखिलाहट सुन पड़ी। यद्यपि मैंने यह पहले-ही-पहल सुनी थी, फिर भी पहचानते देर नहीं हुई—यह किसकी है। उसकी ध्वनि में बड़े गहरे-गहरे अर्थ थे—"तुम मेरे हो। तुम पर मेरा पूरा विश्वास है। तुम्हें पाकर मैं और कुछ भी नहीं चाहती। दूसरे तुम्हें नहीं समझते, तो न समझें, मैं किसी को समझाना नहीं चाहती।"

इसी समय सासुजी शरबत लेकर आईं। परिष्कृत स्नेह के स्वर से कहा—"बच्चा, शरबत पी लो।"

मैंने शरबत पिया। सासुजी ने इस बार भी एक साँस छोड़ी, जो मुझे स्निग्ध करनेवाली थी।

सासुजी प्रसन्न चित्त से पलंग के नीचे एक कंबल बिछवाकर बैठीं, और मेरे पिताजी की बर्बरता की खुली भाषा में आलोचना करने लगीं। मेरी कई बार इच्छा हुई कि उत्तर में सासुजी को बर्बर कहूँ, लेकिन शृंगार की जगह ससुराल में वीर-रस की अवतारणा अच्छी न होगी, सोचकर रह गया। सासुजी अंत तक यह कहती बाज न आईं कि उनकी पुत्री की तरह सुंदरी, पढ़ी-लिखी, सुशील और बुद्धिमती लड़की संसार में दुर्लभ है; अगर पिताजी ने मेरा विवाह कर दिया, तो दैव-दुर्योग के अवश्यंभावी थपेड़े खाते-खाते मेरे पाँचो भूत संसार के इसी पार रह जायँगे।

मैंने इसका भी जवाब नहीं दिया। फलतः सासुजी मुझे अत्यंत समझ-

दार समझीं; कहा—"मैंने तुम्हारा ही मुँह देखकर विवाह किया है, तुम्हारे पिता की तोंद देखकर नहीं।"

मुझे इसका मतलब लगाते देर नहीं लगी कि पिताजी अगर मेरा दूसरा विवाह करने लगे, तो मैं दूसरी ससुराल में अपना मुँह न दिखाऊँ। मेरे ऐसे ही स्वभाव से शायद प्रसन्न होकर सासुजी ने पूछा—"अच्छा, भैया, मेरी लड़की तुम्हें कैसी सुंदरी लगती है ?"

मौखिक इम्तहान में मैं बराबर पहला स्थान पाता रहा हूँ। कहा—"मैंने आपकी लड़की को छुआ तो है, बातचीत भी की है, लेकिन अभी तक अच्छी तरह देखा नहीं; क्योंकि जब मेरे देखने का समय होता था, तब दिया गुल कर दिया जाता था। दूसरे दिन दियासलाई ले तो गया, जलाकर देखा भी, लेकिन सलाई के जलते ही आपकी लड़की ने मुँह फेर लिया, और झोपड़े के अगल-बगलवाले लोग खाँसने लगे। फिर जलाकर देखने की हिम्मत न हुई।"

सासुजी मुस्किराईं, और उठकर भीतर चली गईं।

भोजन के पश्चात् मैंने देखा, सासुजी ने मुझे सौ में एक सौ एक नंबर दिए हैं, यानी मेरे शयन-कक्ष में बड़ी मोटी बत्ती लगाकर दिया रख दिया है, ताकि उनकी पुत्री के अनन्य लावण्य को मैं पूरी सार्थकता के साथ देख सकूँ।

मैं हर्षित हो आँखें बंद किए आगमन की प्रतीक्षा करने लगा। सबका भोजन-पान समाप्त हो जाने पर मंद गति से संसार के समस्त छंदों को परास्त करती हुई उनकी पुत्री भीतर आई।

रूह की मालिश !

एक दिन मन ने कहा—इस वक़्त पूरी लापरवाही से रूह की मालिश कराओ। इन्हें समझा दो कि तुम देहात के रहनेवाले ऐरे-ग़ैरे नहीं हो, तुम्हारी दूसरी ही बातें हैं।

मन में आते ही मैं फाटक के भीतरवाले आँगन में गया, और चारपाई पर नौकर (चंद्रिका) को दरी बिछाने के लिये कहा। सासुजी मेरी बिगड़ी मुद्राएँ कुछ देर तक देखती रहीं, फिर चुपचाप भीतर चली गईं। चंद्रिका ने दरी बिछाई, रूह की शीशी ले आया। मैं चित लेट गया, और छाती दिखाकर कहा, यहाँ लगाओ।

चंद्रिका ने रूह और तेल में भेद नहीं किया। २०) की रूह एक साथ गदोरी में लेकर छाती में थपथपाया, फिर कहा—"लेकिन बाबा, इतनी ही है, इससे क्या होगा ?"

एक दफ़ा मेरा जी छन्न से हुआ कि इसने बीस की मत्थे दी ; पर साँस साधे पड़ा रहा कि कुछ कहूँगा, तो अशिष्टता होगी। रूह की खुशबू चारो तरफ़ उड़ चली। ससुरजी सूँघते-सूँघते बाहर निकल आए, और सूँघते और आँखें तिलमिलाते हुए बोले—"अरघानें उठ रही हैं, बच्चा !"

मैंने आवाज़ दी। उन्होंने खुश होकर कहा—"इतना अतर-फुलेल न लगाया करो, हूरें पकड़ती हैं।" कहकर, प्रसन्न होकर चले गए।

सुगंध भीतर तक आफ़त कर रही थी। सासुजी बाहर निकलीं। चंद्रिका तल्लीन होकर तेल की जैसी मालिश कर रहा था, सासुजी कुछ देर तक देखती रहीं। फिर पूछा—"इत्र है ?"

मैंने गंभीर होकर कहा—"रूह।"

सासुजी चौंकीं। पूछा—"कितने की है ?"

मैंने गंभीर शालीनता से कहा—"बीस रुपए की।"

सासुजी देर तक विस्मय की दृष्टि से देखती रहीं। फिर पूछा—"ऐसी मालिश कितने-कितने दिन बाद करते हो ?"

मैंने वैसे ही उदात्त स्वर से उत्तर दिया—"एक-एक दिन का अंतरा देकर।"

सासुजी फिर थोड़ी देर तक देखती रहीं, और एक लड़की की तरह पूछा—"इससे क्या होता है ?"

मैंने कहा—"सीना तगड़ा होता है।"

मेरा सीना बचपन से चौड़ा था—"सासुजी ने विश्वास कर लिया। कुछ देर तक स्तब्ध भाव से खड़ी रहकर अत्यंत स्वाभाविक स्वर से पूछा—"तुम्हारे पिताजी तनख्वाह कितनी पाते हैं ?"

इसका उत्तर बड़ा अपमान-जनक था, पिताजी की तनख्वाह बहुत थोड़ी थी, किसी भली जगह किसी तरह कहने लायक नहीं। पर जहाँ विश्व का ऐश्वर्य झूठ है, वहाँ झूठ का हिसाब लगाना भी किसी सत्य की शक्ति की बात नहीं। सही बात को दबाकर, गले में खूब जोर देकर कहा—"पिताजी की आमदनी की कितनी सूरतें हैं, क्या कहूँ ! उनकी आमदनी कब कितनी हो जायगी, कहाँ से, कैसे, किससे, यह वही नहीं बता सकते।"

उत्तर सुनकर सासुजी एकाएक रोने लगीं। कुछ देर रोकर स्वयं ही भाव स्पष्ट किया—"जो बाप अपने बेटे के लिये रोज मालिश में बीस रुपए की रूह खर्च करता है, वह अपनी बहू के लिये बीस सौ का चढ़ावा भी नहीं लाता ? अरे राम रे ! मुझे क्या हो गया, जो मैंने शादी कर दी !"

मुझे एक आश्वासन मिला कि पहली बात दब गई। रूह सूख चुकी थी, चंद्रिका रगड़-रगड़कर आग निकाल रहा था। मैंने मालिश बंद करा दी।

दूसरे दिन रूह की मालिश के लिये कहने पर सासुजी ने कहा—"हमारे यहाँ रूह की मालिश नहीं चल सकती। हम इतने बड़े आदमी नहीं। कड़ुवा तेल लगाओ। खाया तो घी जाय, जो रुपए में सेर-भर मिलता है, और लगाई जाय रूह, जो अस्सी रुपए तोले आती है !"

मैंने सोचा, अब गवहीं खत्म है। लेकिन श्रीमतीजी का आकर्षण जबरदस्त था। यद्यपि 'चर्पट-पंजरिका'-स्तोत्र कई बार उन्हें सुना-सुना-

कर पाठ किया, फिर भी वैराग्य की मात्रा श्रीमतीजी ने मुझमें कभी नहीं देखी। वह भी मेरे चारो ओर धोखा-ही-धोखा देखने लगीं। ललित कला-विधि में मैं कालिदास नहीं था, उन्होंने मेरा शिष्यत्व स्वीकार नहीं किया।

रुपए खत्म हो चुके थे। रूह अपनी गाँठ से नहीं मँगा सकता था। सासुजी इस ताक में थीं, मैं कितने दफ़े मँगाकर मालिश कराता हूँ, देखें; मेरे पिताजी ने खर्च के रुपए दिए ही होंगे। हृदय में निश्चय था, सब झोल है। रूह की मालिश कराते उन्होंने किसी बड़े रईस को भी नहीं देखा-सुना था।"

सासुजी की बेटी

मैं निरपेक्ष भाव से भोजन कर, हाथ-मुंह धोकर, अपने शयन-कक्ष में जाकर लेटा था।

घर-भर का भोजन हो जाने पर श्रीमतीजी आईं, लेकिन गति में छंद नहीं बजे। पान दिया, पर दृष्टि में वह अपनापन न था। मैं एक तरफ़ हट गया। उनकी आधी जगह खाली कर दी। बेमन पैर दबाकर वह लेटीं। उनका मनोभाव आज क्यों ऐंठ गया, कुछ-कुछ मेरी समझ में आया, पर चुपचाप पड़ा रहा। सोचा, कमजोर दिल अपने आप बोलना शुरू करता है। अंदाजा ठीक लड़ा। कुछ देर चुपचाप पड़ी रहकर उन्होंने कहा—"इत्र की इतनी तेज खुशबू है कि शायद आज आँख नहीं लगेगी।"

मैंने कहा—"अनभ्यास के कारण। एक कहानी है, तुमने न सुनी होगी। एक मछुआइन थी। एक दिन नदी-किनारे से घर आते रात हो गई। रास्ते में राजा की फुलवाड़ी मिली, उसमें एक झोपड़ी थी, वहीं सो रही। फूलों की महक से बाग़ गमक रहा था। मछुआइन रह-रहकर करवट बदल रही थी। आँख नहीं लग रही थी। फूलों की खुशबू में उसे तीखापन मालूम दे रहा था। उसे याद आई, उसकी टोकरी है। वह मछलीवाली टोकरी सिरहाने रखकर सोई, तब नींद आई।"

श्रीमतीजी गर्म होकर बोलीं—"तो मैं मछुआइन हूँ?"

"यह मैं कब कहता हूँ।" मैंने विनय-पूर्वक कहा—"कि तुम पंडिताइन नहीं, मछुआइन हो। मैंने तो एक बात कही, जो लोगों में कही जाती है।"

श्रीमतीजी ने बड़ी समझदार की तरह पूछा—"तो मैं भी मछली-कलिया खाती हूँ?"

मैंने बहुत ठंडे दिल से कहा—"इसमें खाने की कौन-सी बात है? बात तो सूँघने की है। अपने बाल सूँघो, तेल की ऐसी चीकट और बदबू है कि कभी-कभी मुझे मालूम देता है कि तुम्हारे मुँह पर क़ै कर दूँ।"

श्रीमतीजी बिगड़कर बोलीं—"तो क्या मैं रंडी हूँ, जो हर वक़्त बनाव-सिंगार के पीछे पड़ी रहूँ।"

"लो," मैंने बड़े आश्चर्य से कहा—"ऐसा कौन कहता है, लेकिन तुम बकरी भी तो नहीं हो कि हर वक़्त गँधाती रहो, न मुझे राजयक्ष्मा का रोग है, जो सूँघने को मजबूर होऊँ।"

श्रीमतीजी जैसे बिजली के ज़ोर से उठकर बैठ गईं, बोलीं—"तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है, तो लो, मैं जाती हूँ।"

सिर्फ़ मेरे जवाब के लिये जैसे रुकी रहीं।

मैंने बड़े स्नेह के स्वर से कहा—"मेरी अकेली इच्छा से तो तुम यहाँ सोती नहीं, तुम अपनी इच्छा की भी सोच लो।"

श्रीमतीजी ने जवाब न दिया, जैसे मैंने बहुत बड़ा अपमान किया हो, इस तरह उठीं, और दरवाजे खुले छोड़कर चली गईं।

मैंने मन में कहा—"आज दूसरा दिन है।"

मेरा दम घुट रहा था। रह-रहकर मन में उठता था कि पिताजी की तरह दूसरी शादी की बात कहूँ, पर श्रीमतीजी दिल से अच्छी तरह जानती थीं, बिना कांता एक रात इनकी पार नहीं हो सकती, और आधुनिक प्रेमियों की तरह जिस शब्द-न्यास से ये मुझसे पेश आते हैं, यह दूसरा विवाह हर्गिज न करेंगे। यानी मैं उन्हें छोड़ नहीं सकता। बात सही थी। दिन-भर विराग रहता था, रात को श्रीमतीजी को देखने के साथ अनुराग में परिणत हो जाता। श्रीमतीजी मौन साधे हुए अपने मनोभावों की मारें सहती थीं।

मैंने सोचा, हौसला तोड़ दिया जाय। कहा—"पैर तोड़ा गया है। मेरे पैर के लिये क्या इलाज सोचा है?"

सासुजी पैर पकड़कर बैठ गईं। कहा—"कहाँ, देखूँ?"

मैंने कहा—"अपनी बेटी को बुलाइए।"

सासुजी ने कहा—"बिटिया, रात को पैर दबाने के वक़्त तुमने भैया की नस तिड़का दी है? यहाँ आओ। हमसे यह क्यों नहीं कहा?"

"कहाँ?" शंकित दृष्टि से देखती हुई श्रीमतीजी आईं।

फुटबाल खेलते-खेलते मेरे दाहने अँगूठे में गुम्मड़ पड़ गया था, बाएँ हाथ से दाहना अँगूठा मोटा मालूम देता है। सासुजी को कुछ नजर न

आया, मोटा अँगूठा देख पड़ा, तो पकड़कर कहा—"यह है ?" फिर स्वगत कहा—"यही होगा।" फिर अपनी बेटी से बोलीं—"देखो तो बिटिया, उससे मोटा जान पड़ता है न ?"

उनकी लड़की चिंतित भाव से बोली—"हाँ।" फिर मा की अनुवर्तिता की। वह भी पकड़कर देखने लगीं।

सासुजी ने कहा—"क्यों भैया, हल्दी-चूना गर्म कर दें ?"

मैंने सोचा, जिसने पैर पकड़ा है, उसे माफ़ करना चाहिए। वैराग्य से कहा—"रहने दीजिए।"

बड़े स्नेह से सासुजी ने कहा—"नहीं, रहने क्या दिया जाय ! जाओ तो बिटिया, हल्दी-चूना गर्म करो।"

मैं, जो सुलह हो जाय जंग होकर, सोच रहा था, इसलिये रहस्य को बाद में ही रहने दिया। श्रीमतीजी हल्दी-चूना गर्म करने लगीं।

मैंने निश्चय किया है कि अब यहाँ मेरी दाल न गलेगी। पाँच-छः रोज हो गए। रूह की मालिश नहीं कराई। सासुजी जैसे दिन गिन रही थीं, इधर श्रीमतीजी का खड़ी बोली का ज्ञान दिन-पर-दिन ग़ालिब हो रहा था। सोचा, घर चला जाऊँगा। लेकिन मारे प्रेम के स्टेशन की तरफ़ देखने को इच्छा नहीं होती थी। इसी समय किसी एक उपलक्ष में गाने का आयोजन हुआ।

सासुजी ने एक दिन अपनी पुत्री के संगीत की तारीफ़ की थी। कहा था—"शहर में कोई लड़की और औरत मुक़ाबला नहीं कर सकती।" मैंने सोचा, आज सुन लूंगा, चलते-चलते श्रवण-रंध्र सार्थक हो जायँगे। मजलिस लगी। ढोलक बजने लगी, लेकिन औरतों की जैसी 'उदुम धुसुक, उदुम धुसुक, उदुम धुसुक' नहीं। मैंने सोचा, कुछ आनंद आएगा—'टिकारा वदन्ति ?' पुरुष भी जमने लगे। मनचले, कुछ नहीं, तो दूसरे की औरत का हाथ-पैर ही देख लेनेवाले। भीतर से पान आने लगे। पान-तंबाकू खाकर एक-एक पीक थूकते हुए घर भ्रष्ट करनेवाले औरतों की आलोचना करने लगे। गाना शुरू हुआ। श्रीगणेश ग़ज़लों से। जो औरत ग़ज़ल गाना नहीं जानती, उसकी आफ़त। ग़ज़ल गानेवालियों से प्रभावित। अक्सर ग़ज़ल न जाननेवाली पुरानी वृद्धाएँ थीं, भजन गानेवाली; उन पर नवीनाओं का वैसा ही रोब था, जैसा आजकल साहित्य और समाज में देखा जाता है।

खैर, मैं तन्मय होकर ग़ज़लें सुनने लगा।

गाने के साथ-साथ बाहर आलोचना भी चलने लगी—"कौन गा रही है, यानी गाना उठाया हुआ किसका है, यों साथ-साथ कितने ही मँजे और नौसिखिए गले चलते थे। लोग ग़ज़लों और ग़ज़ल गानेवालियों को चाहते थे। उनके नमक के कारण, पर उनके चरित्र से उन्हें घृणा थी। अब तक श्रीमतीजी कवि-सम्मेलन के बड़े कवि की तरह बैठी थीं। मुझे नहीं मालूम था कि लोग एक के बाद दूसरे उन्हीं के लिये टूटे रहे हैं। खैर, उन्होंने गाया। ग़नीमत यह कि पहले भजन गाया, वह भी साहित्यिक गीतों का शिरोभूषण—"श्रीरामचंद्र कृपालु भजु मन हरण भवभय दारुणम्।" लोग साँस रोककर सुनने लगे। 'कंदर्प अगणित-अमित-छबि-नवनील-नीरज सुंदरम्" की जगह जान पड़ने लगा, गले में मृदंग बज रहा है। मेरा दम उखड़ गया। यह इतनी हैं, बंगाल से पाए संस्कार के प्रकाश में मैं न देख पाया।

इसके बाद एक ग़ज़ल हुई—"अगर है चाह मिलने की, तो हर दम लौ लगाता जा।" यह त्याग की बारूद भड़की, तो लोगों में प्रेम पैदा हो गया, बिना जनेऊ तोड़े, न-जाने क्यों? एक दूसरे से कनखियों से बातें करने लगे। मैंने सोचा, यह मेरे प्रेम पर हैं, पर फिर शंका हुई, क्योंकि मैं मिल चुका था। लोग मुस्किराते हुए अपने-अपने प्रेम की थाह ले रहे थे।

इसके बाद दादरा शुरू हुआ—

"सासुजी का छोकड़ा, मेरी ठोढ़ी पै रख दिया हाथ।
बहुत गम खा गई, नहीं चाँटे लगाती दो - चार।"

एक श्रोता बहुत बिगड़े, बोले—अपने मर्द को चाँटे लगातीं? वैसा ही मर्द होगा।"

उन्हें यह खयाल नहीं था कि उनका मर्द सामने बैठा है। दूसरे ने मेरी तरफ़ देखकर मुस्किराकर कहा—"यह मर्द के लिये नहीं, देवर के लिये है। सासुजी का छोकड़ा देवर भी हो सकता है।"

तीसरे ने कहा—"देवर तो है ही।" मेरी जान में जान आई।

कुछ देर और होकर गाना बंद हुआ। लोग जम्हाई ले-लेकर उठे। स्त्रियाँ भी एक-एक कर निकलने लगीं। थोड़ी देर में घर अपने ही लोगों

का रह गया। श्रीमतीजी का गाना अच्छा, हिंदी अच्छी। मेरी इन दोनो विषयों की ताली तब तक नहीं खुली। संसार में हारने की-सी लाज नहीं। स्त्री सृष्टि की सबसे बड़ी हार है, पुरुष की जीत की सबसे बड़ी प्रमाण-प्रतिमा, इससे मैं हारा। एकांत में पिताजी को एक चिट्ठी लिखी, "मैं कलकत्ता जा रहा हूँ, लिखने-पढ़ने का नुक़सान हो रहा है। आप जब चाहें, पानी बदलकर आएँ; मैं प्रसन्न हूँ, यहाँ कुशल है।" चिट्ठी डाकखाने छोड़ी, और बिस्तरा बाँधकर तैयार होने लगा।

सासुजी ने पूछा—"भैया, बिस्तरा क्यों बाँध रहे हो ?"

मैंने कहा—"कलकत्ता जा रहा हूँ।"

सासुजी का रंग उड़ गया। गाने के बाद अपनी लड़की की गलेबाज़ी पर मुझसे राय लेनेवाली थीं, एकाएक हौसला जाता रहा। कहा—"बाँधना-खोलना हमारा काम है, नौकर है। कलकत्ता अभी कैसे जा सकते हो ? तुम्हारे पिताजी भी क्या कहेंगे ! यहाँ के लोग समझेंगे—दामाद गवहीं आया था, हफ़्ते से ज्यादा न रख सकीं। हमारी बेइज्जती होगी।"

मैंने कहा—"बेइज्जती एक ही ओर की रहने दी जाय।"

सासुजी ने कहा—"तुम्हारी कैसी बेइज्जती ?"

"अपनी बेइज्जती की बात कोई अपनी जबान से नहीं कहता।" मैंने कहा।

मैंने तो सीधे ढंग से कहा था, लेकिन सासुजी एकाएक उच्च स्वर से रोने लगीं। उनके साथ उनकी बेटी भी, छोटी होने के कारण मंद स्वर से। भगवान् जाने इस बीच पिताजी के लिये क्या सोचा हो। घबराकर बोलीं—"मेरी बेटी तो भैया, तुम्हें भगवान् मानती है। रात का वक्त है, झूठ नहीं कहूँगी, सामने आग जल रही है, मेरे मुँह में आग लगे, तुम कहो, तो मेरी लड़की तुम्हारी बात पर अंगार खा सकती है। और, आज ही गाँव-भर की औरतें आई थीं, उसी की वाहवाही रही, हर बात पर; यों चाहे जो कहो।"

"इसी के लिये तो जा रहा हूँ।" मैंने कहा।

सासुजी चौंकी हुई देखने लगीं। मैं फिर बिस्तरा बाँधने लगा।

ससुराल में बिस्तरा बाँधना नाराज़गी का कारण है। सासुजी के

मन में आया—रूह नहीं मँगाई गई, इसलिये जा रहे हैं। बोलीं—"दाम नहीं थे, इसलिये रूह नहीं मँगाई, कल वह भी आ जाती है।"

मैंने कहा—"वह तो बाहरी रूह है, यहाँ भीतरी फ़ना है।"

सासुजी प्रश्न-भरी चिंतित दृष्टि से देखती रहीं।

मैंने कहा—"पढ़ाई पड़ी है। फिर तैयार न कर पाऊँगा।"

आश्वस्त होकर सासुजी ने नौकर को बुलाया। उसे बिस्तरा बाँधने के लिये कहा। मुझसे सस्नेह बोलीं—"कलकत्ता जा रहे हो, ऐं, मैंने सोचा था, कलकत्ते का बहाना है, घूमकर फिर गाँव जाओगे, और गाँव में जब कि प्लेग है, और······कलकत्ता पढ़ाई के लिये जा रहे हो, हाँ, आगे की फ़िक्र तो करनी ही है।"

बिस्तरा बँध गया। ताँगा आया। रायबरेलीवाली गाड़ी के समय पर सासु और ससुरजी के पैर छूकर मैं बिदा हुआ।

प्रवेशिका के द्वार तक !

मैं कवि हो चला था। फलतः पढ़ने की आवश्यकता न थी। प्रकृति की शोभा देखता था। कभी-कभी लड़कों को समझाता भी था कि इतनी बड़ी किताब सामने पड़ी है, लड़के पास होने के लिये सिर के बल हो रहे हैं, वे उद्भिद्‌कोटि के हैं। लड़के अवाक्‌ दृष्टि से मुझे देखते रहते थे, मेरी बात का लोहा मानते हुए।

पर मेरा भाव बहुत दिनों तक नहीं रहा। जब आठ-दस रोज इम्तहान के रह गए, एक दिन जैसे नाड़ी छूटने लगी। खयाल आते ही कि फ़ेल हो जाऊँगा, प्रकृति में कहीं कविता न रह गई; संसार के प्रिय मुख विकृत हो गए; पिताजी की पवित्र मूर्ति प्रेत की-जैसी भयंकर दिखी; माताजी की स्नेह की वर्षा में अविराम बिजली की कड़क सुनाई देने लगी।

नवीना प्रिया की अभिज्ञता की जगह, बंकिम दृगों का वैमनस्य—हलाहल क्षिप्त होने लगा; पुरजनों के प्रगाढ़ परिचय के बदले प्राणों को पार कर जानेवाली अवज्ञा मिलने लगी।

किताब उठाने पर और भय होता था, रख देने पर दूने दबाव से फ़ेल हो जानेवाली चिंता। फलतः कल्पना में पृथ्वी-अंतरिक्ष पार करने लगा। कल्पना की वैसी उड़ान आज तक नहीं उड़ा। वह मसाला ही नहीं मिला। अंत में निश्चय किया, प्रवेशिका के द्वार तक जाऊँगा, धक्का न मारूँगा, सभ्य लड़के की तरह लौट आऊँगा। अस्तु, सबके साथ गया। और-और लड़कों ने पूरी शक्ति लगाई थी, इसलिये, परीक्षा-फल निकलने से पहले, तरह-तरह से हिसाब लगाकर अपने-अपने नंबर निकालते थे, मैं निश्चिंत इसीलिये निश्चिंत था; मैं जानता था कि गणित की नीरस कापी को पद्माकर के चुहचुहाते कवित्तों से मैंने सरस कर दिया है; फलतः, परीक्षा-समुद्र-तट से लौटते वक़्त, दूसरे तो रिक्त-हस्त लौटे, मैं दो मुट्ठी बालू लेता आया; घर में पिता, माता, पत्नी, परिजन, पुरजन सबके लिये आवश्यकतानुसार उसका उपयोग किया।

मेरे अविचल कंठ से यह सुनकर कि सूबे में पहला स्थान मेरा होगा, अगर ईमानदारी से पर्चे देखे गए, लोग विचलित हो उठे। पिताजी तो गर्व से गर्दन उठाए रहने लगे। परंतु ज्यों-ज्यों फल के दिन निकट होते आए, मेरी आत्मा की वल्लरी सूखती गई। वह जगह मैंने नहीं रक्खी थी कि पिताजी एक साल के लिये माफ़ कर देते। घर छोड़े बिना निस्तार न देख पड़ा। एक दिन माताजी से मैंने कहा—"जगतपुर के ज़मींदारों ने बारात में चलने के लिये बुलाया है, और ऐसा कहा है, जैसे मेरे गए बग़ैर बारात की शोभा न बन पड़ती हो।" ज़मींदारों के आमंत्रण से माताजी छलक उठीं; पिताजी को पुकारकर कहा—"सुनते हो, तुम्हारे सपूत ज़मींदारों के यहाँ उठने-बैठने लगे हैं, बारात में चलने का न्योता है।" पिताजी प्रसन्नता को दबाकर बोले—"तो चला जाय; जो कहे, कपड़े बनवा दो, और खर्चा दे दो।" एकांत में पत्नीजी मिलीं, बड़ी तत्परता से बोलीं—"वहाँ नाच देखकर भूल न जाइएगा।"

"राम भजो", मैंने कहा—"क्व सूर्यप्रभवा वंश: क्व चाल्पविषया मतिः।"

"मैं इसका मतलब भी समझूँ ?" वह एक क़दम आगे बढ़कर बोलीं, मन में निश्चय कर कि तुलना में मैंने उन्हें श्रेष्ठ बतलाया है।

समझकर मैंने कहा—"कहाँ तुम्हारी बाँस-सी कोमल दुबली देह से सूरज का प्रकाश, कहाँ वह ज़हर की भरी मोती रंडी !"

"चलो।" कहकर वह गर्व-गुरु-गमन से काम को चल दीं।

समय पर कपड़े बने, और खर्चा भी मिला। पश्चात्, यथासमय, जगतपुर के ज़मींदारों की बारात के लिये रवाना होकर, कुछ दूर से राह काटकर ऐन गाड़ी के वक्त मैं स्टेशन पहुँचा। वहाँ से ससुराल का टिकट लिया। रास्ते-भर में खासी मुहर्रमी सूरत बना ली। ससुरालवाले देखते ही दंग हो गए। ससुरजी, सासुजी और अन्य लोग घेरकर कुशल पूछने लगे। मैंने उखड़ी आवाज़ में कहा—"गाँव में एक खेत के मामले में फ़ौजदारी हो गई है। दुश्मनों के कई आदमी घायल हुए हैं, इसलिये पिताजी की गिरफ़्तारी हो गई है। गिरफ़्तार होते वक्त उन्होंने कहा है, अपने ससुरजी से विवाह के क़रारवाले बाक़ी तीन सौ रुपए लेकर, दूसरे दिन ज़िले में आकर

ज़मानत से छुड़ा लेना।" ससुरजी सन्न हो गए। सासुजी रोने लगीं, और और लोगों को काठ मार गया। ससुरजी के पास रुपए नहीं थे। सासुजी घबराईं कि ऐसे मौक़े पर मदद न की जायगी, तो त्रिपाठीजी क़ैद से छूटकर अपने लड़के की दूसरी शादी कर लेंगे। इस विचार से नथ, करधनी, पाजेब आदि कुछ गहने रेहन कर डेढ़ सौ रुपए मुझे देती हुई बोलीं—"बच्चा, इससे ज्यादा नहीं हो सका; हम तो तुम्हारे सदा के ऋणी हैं; फिर धीरे-धीरे पूरा कर देंगे, त्रिपाठीजी से हाथ जोड़कर हमारी प्रार्थना है।"

मैंने सांत्वना दी कि बाक़ी रुपए लेने मैं उनके घर कभी न जाऊँगा। एक विपत्ति की बात थी, वह इतने में टल जायगी। सासुजी मारे आनंद के रोने लगीं। मैंने बड़ी भक्ति से उनके चरण छुए, और यथासमय स्टेशन आकर कलकत्ता का टिकट कटाया।

मैं ज्यों-का-त्यों! एक बार धोखा खाकर बराबर धोखा खाता रहा; एक परीक्षा की तैयारी न करके कभी पास न हो सका।—कितनी परीक्षाएँ दीं। आज वही परीक्षा-भूमि है, सामने प्रश्नों की अगणित तरंगमाला!

राजा की नौकरी

जब की बात लिख रहा हूँ, तब मैं स्टेट* में एक मामूली नौकर था। चिट्ठी-पत्री, हिसाब-किताब अच्छा नहीं लगता था, पर लाचारी थी।··· पिताजी एक साल पहले गुज़र चुके थे। इसीलिये नौकरी की थी। नहीं तो हर लड़के की तरह दुनिया को सुखमय देखते रहने के स्वप्न लिए रहता; कम-से-कम लिए रहूँगा, यही सोचता था।

एक बार राजा साहब को अपना थिएटर खोलने का शौक़ हुआ। बड़े आदमी की इच्छा अपूर्ण नहीं रहती। कचहरी के बाबू नायक-नट बनने के लिये बुलाए गए। सबके साथ मैं भी गया। मुझे एक बहुत मामूली संस्कृत का गाना दिया गया, इसलिये कि बंगालियों में अधिकांश संस्कृत का शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकते।

मैंने श्लोक याद कर रिहर्सल के दिन गाया। राजा साहब पर उसका बहुत प्रभाव पड़ा। उन्होंने मेरे लिये गाना सीखने का प्रबंध कर दिया। धीरे-धीरे कला की कृपा से मेरी लोक-प्रियता बढ़ चली, साथ दूसरों की ईर्ष्या भी।

कुछ दिन नौकरी करने के बाद एक दुर्घटना हुई। एक साधु आए। एक पेड़ के नीचे बैठे रहते थे, धुनी रमाए, चिमटा गाड़े। मेरी निगाह नए ढंग की थी। साधु के संबंध में भी निगाह नई हो गई थी, स्वामी विवेकानंदजी और स्वामी रामतीर्थजी की बातें सुनकर, किताबें पढ़कर। साधु का संबंध पारलौकिक साधना से होता है, साधना प्राचीन ढंग की तरह-तरह की हैं। मैं बिलकुल आधुनिक था। आदमी सत्य की प्राप्ति के बाद समझने की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि सत्य स्वयं तब समझ के तौर पर मिल जाता है। उस पर आधुनिकता और प्राचीनता के नाम का केवल प्रभाव पड़ता है। मैंने जिन साधुओं को पढ़ा था, उन्होंने नशे के खिलाफ़ बहुत कुछ लिखा था। पर जो साधु नशा करते हैं, वे रास्तों

---

* महिषादल (बंगाल)

पर मारे-मारे फिरते हैं, स्वामी विवेकानंदजी या स्वामी रामतीर्थजी की तरह अँगरेज़ीदाँ नहीं, न अँगरेज़ीदाँ उनके शिष्य हैं, जो गाँजे की चिलम से भड़क जायँगे। ऊँचे सत्य में विद्या की भी गुंजाइश नहीं रहती, शब्द खत्म हो जाता है, लिहाजा रास्तों पर घूमनेवाले थकान की प्रतिक्रिया मिटाने के लिये नशा करते हैं। जिस तरह रोग में ज़हर का प्रयोग चलता है, उसी तरह जीवन के नाश में, प्रतिक्रिया में वे नशा करते हैं। उनके पास चरित्र का मूल्य है, पर उस चरित्र का अर्थ ऐसा नहीं कि आदमी सात रोज़ पाखाना न जाय, या पाँच रोज़ पेशाब न करे, तो सिद्ध है।

अँगरेज़ीदाँ गृहस्थ अँगरेज़ीदाँ साधु ही खोजता है, क्योंकि योरप की, अमेरिका की बातें होनी चाहिए, इस पर उनकी क्या राय है। सत्य के पास योरप, अमेरिका नहीं। रास्तेवाले साधु यहाँ अँगरेज़ीदाँ साधुओं को ही धोखा देता हुआ समझते हैं। मैंने कइयों को कहते सुना है, अपना-अपना गढ़ बनाए हुए हैं। खैर, यह साधु अनेक अर्थों में साधु थे। इनकी इच्छा थी, जगन्नाथजी जायँगे, किराया मिल जाय। राजा साहब के हाउसहोल्ड सुपरिंटेंडेंट साहब इन पर प्रसन्न थे। उन्होंने राजा साहब से इनकी साधुता की तारीफ़ करते हुए इनके किराए की प्रार्थना की। राजा साहब ने सुन लिया।

कचहरी हो जाने पर शाम से दस बजे तक मैं राजा साहब के पास रहता था। उन्हें गाने-बजाने का शौक़ था। अच्छा मृदंग बजाते थे। जाने पर उन्होंने कहा—"एक साधु आए हैं; देख आओ।"

राजा लोग एक विषय को अनेक मुखों से सुनते हैं, तब राय क़ायम करते हैं, इसलिये कि उनके कान-ही-कान हैं, आँखें सब जगह नहीं पहुँचतीं। मैंने राजभक्ति की परा काष्ठा दिखलाते हुए उसी वक़्त कहा—"हुज़ूर, राजकोष का रुपया इस तरह नहीं खर्च होना चाहिए।"

तब मेरे मस्तिष्क में अनेक तरहें थीं, जैसी उपयोगितावादी में होती हैं। राजा साहब सिर्फ़ मुस्किराए। मैं कुछ नहीं समझा। लेकिन उनकी आज्ञा की उपयोगिता समझता था, क्योंकि नौकर था। प्रणाम करके साधु के पास चला। मन में यह निश्चय लिए हुए कि कोष की एक कौड़ी नहीं जानी चाहिए। मन में यह भाव होने के कारण साधु के प्रति रूप कैसा था, कहने की आवश्यकता नहीं।

मुझे देखते ही साधु ने कहा—"आइए !"

मैंने मन में कहा—"यही तो ठग-विद्या है।" खुलकर कहा—"तुम काम क्यों नहीं करते ?"

साधु ने मुझे आप कहा था, मैंने 'तुम' कहा, तब मुझे यह नहीं मालूम था—ईश्वर की प्राप्ति के लिये निकला हुआ मनुष्य ईश्वर-प्राप्ति के बाद दग्ध-कर्म हो जाता है, उसके मन में केवल ईश्वर रहता है।

साधु ने कहा—"मैं 'आप' कहता हूँ, आप 'तुम' कहते हैं। मैं क्या काम करूँ ?"

मेरी 'आप' कहने की प्रवृत्ति नहीं हुई। मैंने कहा—"तुम्हें संसार में कोई काम ही नहीं मिलता ?"

साधु ने कहा—"आप फिर 'तुम' कहते हैं। यह सब काम कौन करता है ?"

मुझे मालूम हुआ, यह पूरा ठग है; क्योंकि लिखी किताबों में साधुओं के हथकंडे और तरह-तरह की शिकायतें पढ़ी थीं। कहा—"तुम्हें रुपया नहीं मिलेगा।"

साधु ने कहा—"होश में आ !" और चिमटा जोर से जमीन में गाड़ दिया।

मुझे मालूम हुआ, वह चिमटा मेरे सिर में समा गया। गर्दन झुक-गई। लेकिन मुझमें मामूली आग नहीं थी। मेरा अभिप्राय असत्य था, फिर भी साधु के प्रति श्रद्धा न निकली।

साधु ने जैसे सिर पर सवार होकर पूछा—"तू राजा है ?"

जो अपराध मैं कर रहा था, वही साधु करने लगे, क्योंकि मैंने साधु को 'तू' नहीं कहा था, 'तुम' कहा था। पर अभी मैं अपने को सँभाल रहा था, जैसे लड़नेवाला नीचे चला गया हो, हार न खाई हो। सँभल-कर कहा—"नहीं, मैं राजा नहीं हूँ।"

साधु व्यंग्य कर रहा था, उसका राजा का अर्थ राम था; मेरा केवल सीधा, वही राजा, जहाँ से मैं आया था।

साधु ने कहा—"तू नौकर है, तो नौकर की तरह बातें क्यों नहीं करता ?"

साधु फिर भूला। नौकर भी राम है। खास तौर से मैं महावीर को अधिक प्यार करता था, राम को कम।

साधु चाहता था, मैं अपनी पकड़ छोड़ दूँ, तो वह होश दे दे, लेकिन मेरी पकड़ में नौकर नहीं था, साक्षात् महावीर थे। पकड़ छुड़ाने के लिये साधु ने कहा—"तेरी नौकरी नहीं रहेगी।"

अगर मैं यहाँ करुण हुआ होता, तो साधु ने बाज़ी मारी होती। मैंने कहा—"महाराज, तब तो मैं बच जाऊँ।" यह महावीर की ही वाणी थी, राम के प्रति। तब मैं यह कुछ नहीं जानता था।

साधु के होश उड़ गए। यह नौकरी के लिये आग्रह नहीं था, फिर मेरे सिर उतने बच्चों का बोझ था।

साधु रोने लगे, कहा—"अरे, तेरे लिये मैंने घर-बार छोड़ दिया, और तू मुझे सताता फिरता है?"

अब मैं भी समझा। मुझे ज्योति भी दिखी। पहले 'जुही की कली' लिखते वक्त दिखी थी, तब नहीं समझा था। अब के एक साधु ने पहचान करा दी।

मैं चलने लगा, तो साधु ने कहा—"तो चलो, चलें।"

लेकिन मैंने संसार की तरफ़ खींचा, क्योंकि ज्ञान के साथ कर्मकांड जो बाक़ी था, उसकी ओर आकर्षण हुआ। इस समय साधु को वैसा ही कष्ट हुआ, जैसा मुझे हुआ था। बड़ी ही करुण ध्वनि की, जैसे बदन टूट रहा हो।

राजा साहब के पास गया, तब सब भूल गया; जड़ राजा का भूत सवार हो गया। राजा साहब ने पूछा—"कैसे साधु हैं?" मैंने कहा—"ऐसे आदमी को रुपए नहीं देने चाहिए।" राजा साहब चुप हो गए।

सुबह सुपरिंटेंडेंट साहब फिर गए, और बीस रुपए की मंज़ूरी करा ली। रुपए लेकर सुपरिंटेंडेंट साहब गए। पर हाथ जो बढ़े, वे दंभ के हाथ थे। साधु ने कहा—"मैं रुपए नहीं लूँगा। कल राजा आए थे। मैंने उन्हें नाराज़ कर दिया है। मैं जाता हूँ।" कहकर अपना चिमटा वहीं फेंक दिया, और चले गए।

सुपरिंटेंडेंट साहब ने रास्ता रोककर कहा—"महाराज, वह राजा नहीं था, वह तो एक मामूली नौकर है।"

साधु ने कहा—"तू नहीं समझता, वह राजा था।"

सुपरिंटेंडेंट साहब मुँह फैलाकर देखने लगे। साधु चले गए।

कुछ देर बाद मैं भी उस रास्ते से गुज़रा। सुपरिंटेंडेंट साहब ने कहा—"तुमने कल साधु से क्या कहा था—'मैं राजा हूँ ?'"

"नहीं, दादा", मैंने कहा—मैंने ऐसा तो नहीं कहा।"

सुपरिंटेंडेंट मुझसे भी बड़े राजभक्त थे। कहा—"तुमने कहा है। साधु ने रुपए नहीं लिए, अपना चिमटा फेंककर चला गया। मैं महाराज से अभी रिपोर्ट करता हूँ।"

कौन समझता है, वह निश्छल नत जन विश्व के सामने नत है-—वह दादा कहनेवाला और है। यह सलाम करनेवाला नहीं।

दादा ने राजा साहब से रिपोर्ट की, बड़े उदात्त शब्दों में। सुनी बात पर जैसी अतिशयोक्ति होती है।

मेरे जाने पर सस्नेह राजा साहब ने कहा—"तुमने साधु से कहा था—'मैं राजा हूँ ?'"

उत्तर उस तरह मुझसे न देते बना, जिस तरह देना चाहिए था, क्योंकि मैं भी राजा को साक्षात् पुरुषोत्तम नहीं देख रहा था। कहा—"हाँ, मैंने कहा। राजा का नौकर राजा नहीं, तो क्या है ?"

यह अद्वैतवाद राजा समझते थे। भारत की नौकरशाही का यही अर्थ है।

उस समय के लिये निष्कृति मिली। कठिन संसार की उलझन साथ ही थी। एक दिन मैं राजा साहब के यहाँ से अपने डेरे जा रहा था, रात के ग्यारह बजे होंगे। सुपरिंटेंडेंट साहब कचहरी नहीं गए थे। लेकिन हाथीखाने के पास, जो जगह उनके मकान से मील-भर है, मुझे मिले। वह शराब पीते हैं, यह मशहूर बात थी, शराब पीनेवाला और भी बहुत कुछ करता है। संसार का अपना एक चरित्र है—दिखाऊ। उसके प्रतिकूल कुछ होने पर घबराहट होती है। सुपरिंटेंडेंट साहब को रात ग्यारह बजे देखने के साथ मैं चौंका, वह भी चौंके। वह मेरी शिकायत कर चुके थे, इसलिये भी। मैं चौंका, वह यहाँ इतनी रात को क्या कर रहे हैं। चौंका-चौंकी के साथ मुझे शराब की बू मालूम दी, पर मैं चुपचाप चला गया।

दूसरे दिन कथा-प्रसंग पर मैंने राजा साहब से कह दिया, पर शिकायत के तौर पर नहीं, मज़ाक़ के तौर पर। सुपरिंटेंडेंट साहब पीते हैं,

यह सब लोग जानते थे, राजा साहब और बहुत जानते थे। हँसने लगे।

पर बड़े आदमी कहलानेवाले लोग अपने मातहत रहनेवालों या नौकरों से तरह-तरह से पेश आते हैं। एक दिन एकाएक मुझे हुक्म हुआ—"गोपालजी के मंदिर में जाकर, क़सम खाकर कहो, तुमने सुपरिंटेंडेंट साहब को शराब की हालत में देखा है।"

सुपरिंटेंडेंट साहब को हुक्म हुआ—"तुम कहो, मैंने नहीं पी।"

सुपरिंटेंडेंट साहब संसारी आदमी थे। एक गवाह ठीक कर लिया था—फ़ीलवान, यह कहने के लिये कि सुपरिंटेंडेंट साहब के लड़के को भूत लगा था, वह फूंक डालने गया था। उसे हुक्म हुआ, वह क़ुरान लेकर कहे।

क़सम के दिन फ़ीलवान नहीं गया। हम दोनो गए। मैंने जैसी सुगंध पाई थी, उसके लिये क़सम खाई। सुपरिंटेंडेंट साहब बिलकुल डकार गए।

क़समी-क़समा हो जाने के बाद मैंने इस्तीफ़ा दाखिल किया। राजा साहब को एक निजी पत्र लिखा—"मेरे धर्म-स्थल पर हस्तक्षेप करने का आपको कोई अधिकार न था। फिर मैंने सुपरिंटेंडेंट साहब की नौकरी लेने के लिये नहीं कहा था।"

सुपरिंटेंडेंट साहब ने उन्हें यही समझाया था कि उस साधु के संबंध में चूंकि सही-सही बातें कही हैं, इसलिये उनकी नौकरी लेने के अभि-प्राय से मैंने यह जाल रचा है। अब जब से हुज़ूर ने वह सब काम छोड़ दिया है, तब से हुज़ूर की बराबर अनुवर्तिता वह कर रहे हैं, इसीलिये हुज़ूर ने गुरु-मंत्र लेने की बात भी कही थी। गुरु-मंत्र का प्रभाव होता ही है।

मेरा इस्तीफ़ा मंजूर न किया गया। राजा साहब की चिट्ठी आई—"यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते।"

मैंने कहा—"अध्रुव की ही सेवा सही, मेरी तनख्वाह दे दी जाय, मेरा काम समझ लिया जाय।"

नौकरी छोड़ दी। कई लोग, यहाँ तक कि असिस्टेंट मैनेजर साहब, जिन पर रोज़ रिश्वत का इलज़ाम लगता था, मिलने पर कह गए—"यहाँ तुम्हीं एक आदमी हो। बहुतों ने झुकी कमर सीधी कर-करके देखा। मैंने

अपनी चीजें नीलाम करके, एक भतीजे को साथ लेकर गाँव का रास्ता लिया ।

तब से आज तक मैं नौकर और नौकरी को पहचानता हूँ । इस बयालीस साल उम्र में पहले बड़ी मजबूरी में नौकरी की थी, सिर्फ़ दो-ढाई साल चली । अस्तु ।

हिंदी पढ़ी !

श्रीमतीजी जब मेरे अधिकार में पूरी तरह नहीं आ रही थीं, अर्थात् शिष्यत्व स्वीकार नहीं कर रही थीं, क्योंकि वह समझती थीं, मैं और जो कुछ भी जानता होऊँ, हिंदी का पूरा गँवार हूँ। हिंदी का वैसा गँवार नहीं, जैसा पढ़े-लिखे सैकड़ा पीछे निन्यानबे होते हैं, बिलकुल ठोस मूर्ख। मुझे भी श्रीमतीजी की विद्या की थाह नहीं थी।

आख़िर, एक दिन बात लड़ गई। मैंने कहा—"तुम हिंदी-हिंदी करती हो, हिंदी में क्या है ?"

उन्होंने कहा—"जब तुम्हें आती ही नहीं, तब कुछ नहीं है।"

मैंने कहा—"हिंदी मुझे नहीं आती ?"

उन्होंने कहा—"यह तो तुम्हारी ज़बान बतलाती है। बैसवाड़ी बोल लेते हो, तुलसी-कृत रामायण पढ़ी है, बस ! तुम खड़ी बोली का क्या जानते हो ?"

तब मैंने खड़ी बोली का नाम भी नहीं सुना था। पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी, पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय, बाबू मैथिलीशरण गुप्त आदि तब मेरे लिये स्वप्न में भी नहीं थे, जैसे आज हैं। श्रीमतीजी पूरे उच्छ्वास से खड़ी बोली के ऐसे धुरंधर साहित्यिकों के बीसियों नाम गिनाती गईं। जैसे लेख के उद्धरण-पर-उद्धरण देखकर पाठक लेखक की विद्वत्ता और विचारों की उच्चता पर दंग हो जाता है, वैसे ही मैं भी खड़ी बोली के साहित्यिकों के नाम-मात्र से खड़ी बोली के ज्ञान पर जहाँ का वहीं रह गया।

एक आग दिल में लगी थी—मैंने हिंदी नहीं पढ़ी। बंगाल में हिंदी का जानकार नहीं था, जहाँ मैं था, देहात में। राजा के सिपाही जो हिंदी जानते थे, वह मुझे मालूम थी—व्रज-भाषा। खड़ी बोली के लिये अड़चन पड़ी। तब हिंदी की दो पत्रिकाएँ थीं—सरस्वती और मर्यादा। दोनो मँगाने लगा। सरस्वती चेहरे की भी सरस्वती थी, 'मर्यादा' अमर्यादा। पढ़कर भाव अनायास समझने लगा, पर लिखने में अड़चन पड़ती थी।

ब्रज-भाषा या अवधी, जो घर की ज़बान थी, खड़ी बोली के व्याकरण से भिन्न है। ...लेकिन मेहनत सब कुछ कर सकती है। मैं रात दो-दो, तीन-तीन बजे तक सरस्वती लेकर एक-एक वाक्य संस्कृत, अँगरेज़ी और बँगला व्याकरण के अनुसार सिद्ध करने लगा। मुझे कारण भी मिला। वह आनंद, कारण के बाद जो हुआ, ब्रह्मानंद से कम नहीं कहा जा सकता।

ऐसी अनेक और अड़चनें पार कीं। आचार्य द्विवेदीजी को गुरु माना, लेकिन शिक्षा अर्जुन की तरह नहीं, एकलव्य की तरह पाई।

मैं खड़ी बोली का वाल्मीकि नहीं, पर 'भयो सिद्ध करि उलटा जापू' अगर किसी पर खप सकता है, तो हिंदी के इतिहास में मात्र मुझ पर। यह सब उलटा-पलट मैंने जान-बूझकर नहीं किया। उलटा-पलट उसके लिये कहा जा सकता है, जिसकी मातृभाषा हिंदी न हो। मेरी बैसवाड़ी माता-पिता की दी वाग्विभूति, जिससे सभी रसों के स्रोत मेरे जीवन में फूटकर निकले हैं, साहित्यिकों में प्रसिद्ध है। अस्तु!

'……आप अपने से बड़ा मैं!'

स्वर्गीया प्रिया मनोहरादेवी

रँग गई पग - पग धन्य धरा,
हुई जग जगमग मनोहरा !

(गीतिका)

शृंगार, रहा जो निराकार,
रस कविता में उच्छ्वसित धार ।
गाया स्वर्गीया प्रिया संग—
भरता प्राणों में राग - रंग !

(सरोज-स्मृति)

मेरा और मेरी दिव्यधामवासिनी धर्मपत्नी का संबंध पंडितों ने पत्रा देखकर जोड़ा था, मुझे और उन्हें देखकर नहीं, इसलिये विवाह के पश्चात् मेरी और उनकी प्रकृति वैसे ही मिली, जैसे पंडितों की पोथियों के पत्र एक-दूसरे से मिले रहते हैं। वह अखंड भारतीय थीं, और मैं प्रत्यक्ष राक्षस—रोज मांस खाता था। उन्होंने मुझे विश्रामसागर, पद्म-पुराण, शिव-पुराण और न-जाने कौन-कौन-से ग्रंथ, गुटके और पाद टिप्पणियाँ दिखलाकर कहा, इससे बड़ा पाप होता है, तुम मांस खाना छोड़ दो। तब मैं कुछ मूर्ख था, और वह मुझसे हिंदी में ज्यादा पंडित थीं। मांस से कितनी भयंकर सजा मिलती है, उसके जो चित्र उन्होंने दिखलाए, उनके स्मरण-मात्र से मेरे प्राण सूख जाते। कुछ दिनों तक मैंने मांस खाना छोड़ दिया। तब मेरा स्वास्थ्य भी मुझे छोड़ने लगा। स्वास्थ्य की चिंता तो होती थी, पर यम-दंड के भय के सामने स्वास्थ्य का विचार न चलता था। मेरी पत्नी को मेरे स्वास्थ्य का भय न था, जितनी प्रसन्नता मेरे मांस छोड़कर भारतीय बन जाने की थी। धीरे-धीरे सूखकर काँटा हो गया। एक दिन नहाने के लिये जा रहा था, कुएँ पर मेरे एक पूज्य वृद्ध ब्राह्मण मिले। मुझे देखकर बड़े ताज्जुब में आए। पूछा—"तुम क्या हो गए ?"

"मांस छोड़ दिया, इसलिये दुबला हो गया हूँ।"

उन्होंने कहा—"तो मांस क्यों छोड़ा ?"

मैंने कहा—"विश्रामसागर में लिखा है, बड़ा पाप होता है, मरने पर मांसाहारी को यमदूत बड़ा दंड देते हैं !"

उन्होंने पूछा—"तुमने अपनी इच्छा से छोड़ा या किसी के कहने पर ?"

मैंने सच-सच बतला दिया। उन्होंने कहा—"तो तुम फिर खाओ, कनवजियों को पाप नहीं होता, उनको बरदान है।"

मैंने पूछा—"कहीं लिखा भी है ?"

उन्होंने कहा—"हाँ, है क्यों नहीं ? बंशावली में लिखा है !" मुझे वैसी प्रसन्नता आज तक कभी नहीं हुई। पत्नी पर बड़ा गुस्सा आया। उनसे तो मैंने कुछ भी न कहा, शाम को बाजार से आधा सेर मांस तौला लाया। मकान में लाकर रक्खा, तो श्रीमतीजी दंग। उस समय मेरे घर के और लोग विदेश में थे। श्रीमतीजी रूमाल में खून के धब्बे देखकर समझ गईं। पूछा—"यह क्या है ?"

मैंने कहा—"मांस।"

"तो क्या फिर खाओगे ?"

मैंने कहा—"हाँ, हमें बरदान है।"

श्रीमतीजी हँसने लगीं। पूछा—"कहाँ मिला यह बरदान ?"

"हमारे पूर्वजों को मिला है, बंशावली में देख लो, तुम्हें विश्वास न हो तो।"

श्रीमतीजी ने कहा—"खुद पकाते हो ही, अपने मांसवाले बरतन अलग कर लो, और जिस रोज मांस खाओ, उस रोज़ न मुझे छुओ, और न घर के और बरतन, और तीन रोज़ तक कच्चे घड़े नहीं छूने पाओगे।"

मैंने कहा—"इस समय तो रोज़ खाने का विचार है, क्योंकि पिछली कसर पूरी कर लेनी है।"

उन्होंने कहा—"तो मुझे मेरे मायके छोड़ आओ।"

मैंने कहा—"लिख दो, कोई ले जाय, नहीं तो नाई भेज दो, किसी को बुला लावे। मैं जहाँ मांस पकाता हूँ, वहीं दो रोटियाँ भी ठोंक लूंगा।"

श्रीमतीजी चली गईं। पत्नी-प्रेम इसी तरह तीन-चार साल कटा। चार महीने मेरे यहाँ रहतीं, आठ महीने मायके।

अंतिम साल मायके में इन्फ़्लुएंज़ा का प्रकोप हुआ। इन्हें भी इन्फ़्लुएंज़ा हुआ। पिताजी एक साल पहले गुज़र चुके थे। तब मैं बंगाल में था। मेरे पास तार गया—

"तुम्हारी स्त्री सख्त बीमार है, अंतिम मुलाक़ात के लिये आओ।"

मेरी उम्र तब बाईस साल थी। स्त्री का प्यार उसी समय मालूम दिया, जब वह स्त्रीत्व छोड़ने को थी। अखबारों से मृत्यु की भयंकरता मालूम हो चुकी थी। गंगा के किनारे आकर प्रत्यक्ष की। गंगा में लाशों का ही जैसे प्रवाह हो। ससुराल जाने पर मालूम हुआ, स्त्री गुज़र चुकी है। क़स्बे के डॉक्टर मेरे परिचित मित्र थे। उनसे मिला, तो अफ़सोस करने लगे। कहा—फेफड़े कफ से जकड़ गए थे। प्यास ज्यादा थी। मैंने पानी की जगह अखनी पिलाने को कहा, वैसे ही डॉक्टरी दवा देने के लिये पूछा। उन्होंने इंकार कर दिया। कहा—"दस बार नहीं मरना है। यह अकाल मृत्यु न होती, तो शायद जीवन कुछ सुखमय रहता।

जिसकी हिंदी के प्रकाश से, प्रथम परिचय के समय, मैं आँखें नहीं मिला सका, लजाकर हिंदी की शिक्षा के संकल्प से कुछ काल बाद देश से विदेश पिता के पास चला गया था, और उस हिंदी-हीन प्रांत में बिना शिक्षक के 'सरस्वती' की प्रतियाँ लेकर पद-साधना की, और हिंदी सीखी थी; जिसका स्वर गुरुजन, परिजन और पुरजनों की सम्मति में मेरे (संगीत) स्वर को परास्त करता था; जिसकी मैत्री की दृष्टि क्षण-मात्र में मेरी रूक्षता को देखकर मुस्किरा देती थी, जिसने अंत में अदृश्य होकर, मुझसे मेरी पूर्ण परिणीता की तरह मिलकर, मेरे जड़ हाथ को अपने चेतन हाथ से उठाकर दिव्य शृंगार की पूर्ति की, वह सुदक्षिणा स्वर्गीया प्रिया प्रकृति दिव्यधामवासिनी हो गई!

वंश-नाश

मेरा अंतर वज्र कठोर,
देनाजी भरसक झकझोर;
मेरे दुःख की गहन अंध-
तम निशि, न कभी हो भोर।
क्या होगी इतनी उज्ज्वलता—
इतना वंदन - अभिनंदन ?
जीवन चिरकालिक क्रंदन !

—'निराला'

श्रीमतीजी का महाप्रयाण हो चुका था। दादाजाद भाई* देखने के लिये आकर, बीमार होकर घर गए थे। मैं दूसरे ही दिन घर के लिये रवाना हुआ। जाते समय रास्ते में देखा, बड़े भाई साहब की लाश जा रही है। रास्ते में चक्कर आ गया। सिर पकड़कर बैठ गया।

घर जाने पर भाभी बीमार पड़ी दिखीं। पूछा—"तुम्हारे दादा को कितनी दूर ले गए होंगे ?" मैं चुप हो गया। उनके चार लड़के और एक दूध पीती लड़की थी। उस समय बड़ा लड़का मेरे साथ रहता था, बंगाल में, पढ़ता था। घर में चाचाजी अभिभावक थे। भाई साहब की लाश निकलने के साथ चाचाजी भी बीमार पड़े। मुझे देखकर कहा—"तू यहाँ क्यों आया ?"

पारिवारिक स्नेह का वह दृश्य कितना करुण और हृदयद्रावक था, क्या कहूँ ! स्त्री और दादा के वियोग के बाद हृदय पत्थर हो गया। रस का लेश न था। मैंने कहा—"आप अच्छे हो जायें, तो सबको लेकर बंगाल चलूँ।"

---

* बदलू।

उतनी उम्र के बाद यह मेरा सेवा का पहला वक्त था। तब से अब तक किसी-न-किसी रूप से फ़ुर्सत नहीं मिली। दादा के गुज़रने के तीसरे दिन भाभी गुज़रीं। उनकी दूध-पीती लड़की बीमार थी। रात को उसे साथ लेकर सोया। बिल्ली रात-भर आफ़त किए रही। सुबह उसके प्राण निकल गए। नदी के किनारे उसे ले जाकर गाड़ा। फिर चाचाजी ने प्रयाण किया। गाड़ी गंगा तक जैसे लाश ही ढोती रही। भाभी के तीन लड़के बीमार पड़े। किसी तरह सेवा-शुश्रूषा से अच्छे हुए। इस समय का अनुभव जीवन का विचित्र अनुभव है। देखते-देखते घर साफ़ हो गया। जितने उपार्जन और काम करनेवाले आदमी थे, साफ़ हो गए। चार लड़के दादा के, दो मेरे। दादा के सबसे बड़े लड़के की उम्र १५ साल, मेरी सबसे छोटी लड़की साल-भर की। चारो ओर अँधेरा नज़र आता था।

घर से फ़ुर्सत पाने पर मैं ससुराल गया। इतने दुःख और वेदना के भीतर भी मन की विजय रही। रोज़ गंगा देखने जाया करता था। एक ऊँचे टीले पर बैठकर लाशों का दृश्य देखता था। मन की अवस्था बयान से बाहर। डलमऊ का अवधूत-टीला काफ़ी ऊँचा, मशहूर जगह है। वहाँ गंगाजी ने एक मोड़ ली है। लाशें इकट्ठी थीं। उसी पर बैठकर घंटों वह दृश्य देखा करता था। कभी अवधूत की याद आती थी, कभी संसार की नश्वरता की।

अब पिताजी नहीं, माताजी नहीं, पत्नी नहीं, केवल मैं हूँ! केवल मैं!! केवल मैं!!!

अभी न होगा मेरा अंत!
अभी-अभी ही तो आया है—
मेरे वन में मृदुल वसंत।"

—'निराला'

जीवन चिरकालिक क्रंदन !

धिक् जीवन, जो पाता ही आया है विरोध;
धिक् साधन, जिसके लिये किया है सदा शोध !

मुझे बराबर पेट के लाले रहे। जीविका का कोई निश्चित उपाय न था। चार भतीजों की परवरिश सिर पर। ऐसे ही एक ने मुझसे कहा—"महात्माजी ने सिद्ध कर दिया है कि चर्खा चलाने से कम-से-कम रोटियाँ चल सकती हैं। जिन सज्जन ने चर्खे की उपयोगिता समझाई थी, उन्हें एक तकुआ खरीद लाने के लिये पैसे दिए थे, वह कानपुर गए थे। यहाँ मेरे गाँव के पड़ोस में कोरी बुनाई का काम करते थे, मैं सीखने के लिये रोज़ जाने लगा। कोरियों ने कहा—"तुम महाराज होकर क्या यह काम करोगे ? अरे, कहीं भागवत बाँचो।"

वह सज्जन कानपुर से लौटे, बोले—"जल्दी में थे, खरीदने की याद नहीं थी।"

"...सोलह-सत्रह साल की उम्र से विपर्यय शुरू हुआ, लेकिन मुझे इतना ही हर्ष है कि जीवन के उसी समय से मैं जीवन के पीछे दौड़ा था, जीव के पीछे नहीं ! जीव के पीछे पड़नेवाला बड़े-बड़े मकान, राष्ट्र-चमत्कार और जादू से प्रभावित होकर जीवन से हाथ धोता है, जीवन के पीछे चलनेवाला जीवन के रहस्य से अनभिज्ञ नहीं होता।

"जीवन की गति कुटिल, अंधतम जाल,
जहाँ हाय, केवल श्रम, केवल श्रम,
केवल श्रम, मर्म कठोर,
केवल अंधकार, करना वन पार,
जहाँ केवल श्रम घोर।"

—'निराला'

अर्थंकरी समझकर मैंने मक़तब की शिक्षा छोड़ दी थी। तब अर्थ का व्यापक अर्थ मुझे मालूम नहीं था, इसीलिये जड़ार्थ से मेरा हमेशा छत्तीस का संबंध रहा। लेकिन विशाल अर्थ, जिसे न जानकर भी मैंने अर्थकरत्व छोड़ा था, मेरे विशाल हृदय मित्रों से मुझे प्राप्त होता रहा।

जब मैं बेकार था, सरस्वती से कविता-लेख वापस आते थे। एक-आध चीज छपी थी। 'प्रभा' में मालूम हुआ—बड़े-बड़े आदमियों के लेख-कविताएँ छपती हैं। एक दफ़ा ऑफ़िस जाकर बातचीत की, उत्तर मिला, इसमें 'भारतीय आत्मा' 'राष्ट्रीय पथिक' और मैथिलीशरण गुप्त-जैसे कवियों की कविताएँ छपती हैं। ऐसे ही कुछ लेखकों के नाम सुने। मुँह लटकाकर लौट आया था।

"जाना तो अर्थागमोपाय ;
पर रहा सदा संकुचित काय।
लखकर अनर्थ आर्थिक पथ पर
हारता रहा मैं स्वार्थ - समर !
अस्तु, मैं उपार्जन को अक्षम !"

—'निराला'

मित्रवर कुल्ली

पं० पथवारीदीनजी भट्ट (कुल्ली भाट) मेरे मित्र थे। उनका परिचय 'कुल्ली भाट' पुस्तिका में है। कुल्ली सबसे पहले मनुष्य थे। जीवन-चरित्र जैसे आदमियों के बने और बिगड़े, कुल्ली भाट ऐसे आदमी न थे। उनके जीवन का महत्त्व समझे—ऐसा अब तक एक ही पुरुष (गोर्की) संसार में आया है।

ससुराल में गौने के साल कुल्ली से पहली मुलाक़ात हुई थी।

उस दिन की याद है, जब इक्के पर पहली बार अदालती फ़ैशन के बिगड़े कुल्ली मिले थे।

दूसरे दिन प्रातः-कृत्य से निवृत्त होकर, जलपान कर, एक किताब लेकर बैठा था कि सुबह सूरज की किरन फूटने के साथ कुल्ली आए। दिन के समय बाहर की बैठक में मेरे रहने का प्रबंध था। पलंग बिछाया जा चुका था। मैं बैठक की तरफ़ चला। पलंग के पास एक खाली चारपाई पड़ी थी। कुल्ली अपनी तरफ़ से उस पर बैठ गए। बराबरी की होड़ नहीं की—यह मुझे बहुत अच्छा लगा।

इसी समय पान आए। कुल्ली ने तश्तरी लेकर आदर की दृष्टि से देखते हुए मेरी तरफ़ बढ़ाई। मैंने गौरव-पूर्ण गंभीरता से दो बीड़े लिए। आशीर्वाद के स्वर से कुल्ली को भी खाने के लिये कहा। मुस्किराते हुए कुल्ली ने दो बीड़े ले लिए, और तश्तरी चारपाई पर रख दी।

फिर बड़ी सभ्य भाषा में बातचीत छेड़ी। बात उसी शहर के इतिहास पर थी। मैं देखता था। कुल्ली मुझे, खास तौर से मेरी आँखों को, इस तरह देखते हैं, जैसे उनके बहुत बड़े कोई प्रियजन हैं। यह दृष्टि इससे पहले मैंने नहीं देखी थी। मुझे कौतूहल तो था, पर भीतर से अच्छा लगता था। कुल्ली ने कहा—"यह दलमऊ 'दल बाबा' का था।"

यह इतनी ऐतिहासिक जगह है, सुनकर मैं पुलकित हो गया। ऐसी

जगह ससुराल देने के कारण परम पिता को धन्यवाद दिया। मन में इतनी महत्ता आ गई, जैसे मेरी श्रीमतीजी दल की ही दुहिता रही हों। मैं विच्छुरित आनंद की दृष्टि से कुल्ली को देखने लगा।

मेरी ससुराल के संबंध में एक साथ इतने नाम आएँगे, मेरा स्वप्न में भी जाना न था। मैं एक विशिष्ट व्यक्ति की तरह गंभीर होकर बैठा।

मुस्किराकर कुल्ली ने कहा—"यहाँ कई घाट हैं, मठ और मंदिर। बहुत पुरानी जगह है। उजड़ी बस्ती। देखने लायक़ है।"

"मैं देखूँगा।" मन-ही-मन ससुरालवालों को इतर विशेष कहते हुए मैंने कहा।

कुल्ली ने कहा—"अब चलिए, आपको ले चलूँ। इस वक़्त तो धूप हो गई है। शाम को चलें, तो चलकर क़िला देख आइए।"

मैंने सम्मति दी। कुल्ली ने कहा—"मैं चार बजे आऊँगा। यहाँ आदमी भी बहुत बड़े-बड़े हो गए हैं, जैसे मेरे वंश के................"

कुल्ली ने कुछ कवियों के नाम गिनाए। मैंने उन्हें भी बड़ी इज्ज़त से मन में जगह दी। कुछ देर बाद कुल्ली उसी तरह आँखें देखते हुए नम्रता-पूर्वक नमस्कार कर बिदा हुए।

कुल्ली एक घंटा पहले आए। बहुत बने-ठने। विनीत, अप्रतिभ दृष्टि और श्री-हीन मुख। तब चाटूक्ति अच्छी लगती थी, क्योंकि उसका दर्शन न समझता था; समझता, तो उसका दृष्टि, चेहरे और बातचीत से ही ख़ात्मा कर दिया होता।

मैं घर के भीतर सीधे अपने कमरे में गया। बाल कंघी किए, कपड़े बदले, जूते पहने, फिर छाता लेकर बाहर निकला। ...कुछ दूर पर शिवाला मिला। चारों ओर घूमकर हम लोगों ने मंदिर देखा, देवता के दर्शन किए, फिर मंदिर की चित्रकला देखते रहे। फिर बैठकर कुछ देर विश्राम करने और पुजारीजी की बातचीत सुनने लगे। ज्यों-ज्यों देर हो रही थी, कुल्ली का पेट ऐंठ रहा था। ...मैं पुजारीजी की बात ख़त्म होने पर उठा, तब तक कुल्ली सैकड़ों मर्तबे निगाह से मुझे उठाते रहे। मैं देखता और सुनता रहा।

हम ढाल से नीचे उतरे। क़िला देख पड़ने लगा। फिर आगे बढ़े। एक छोटे पहाड़ की चोटी पर पहुँचा। सीढ़ी के सिरे पर बैठ गया।

कुल्ली ने कहा—"दोस्त, क्या हवा चल रही है !"

कुल्ली का दोस्त कहना मुझे बड़ा अच्छा लगा। मित्रता की तरफ़ और गुड्डम के खिलाफ़ मैं पहले से था। मैंने कुल्ली का समर्थन किया। कुल्ली मुस्किराए मेरी मैत्री की आवाज़ पर, फिर इस स्वर को और उदात्त कर बोले—"दोस्त, तुम्हारा चेहरा बतलाता है कि तुम गाते हो, कुछ सुनाओ वक़्त की चीज़।"

मैं गद्‌गद हो गया, यह सोचकर कि वक़्त की चीज़ सुननेवाला संगीत-मर्मज्ञ है। तारीफ़ से मैं अभी कल तक उमड़ आता था; उमड़ जाने पर आदमी हल्का हो जाता है, न जाना था। गाने लगा। कुल्ली सिर हिलाने लगे। मैं देखता था, ताल के साथ कुल्ली के सिर हिलाने का संबंध न था। आश्चर्य हुआ कि ऐसा समझदार यह क्या कर रहा है। इसके बाद कुल्ली ने सम की जगह समझकर "है," किया; यहाँ सम न थी। एक कड़ी गाकर मैंने गाना बंद कर दिया।

कुल्ली ने कहा—"यार, तुम तो बहुत बड़े ऊँचे दर्जे के गवैए हो, हमारा इतना जाना न था।"

मैं फिर फूल गया। कुछ उस्तादों के नाम गिनाए, जिनमें कुछ से कुछ सीखा था, अधिकांश के नाम सुने थे, कहा—"इन सबसे मैंने यह विद्या ली है।"

मेरे गुरुत्व पर गंभीर होकर कुल्ली बोले—"हाँ, ये सब लोग राना साहब के यहाँ आते हैं। पर तुम्हारी और बात है। तुम्हारा गला क्या है ! तुम्हारा गला है या जादू !"

मैं संयत होने लगा, कुल्ली जो कुछ कह रहे हैं, ठीक है समझकर।

शाम हो रही थी। घर की याद आई। मैंने कहा—"अब चलना चाहिए।"

कुल्ली भावस्थ हो गए, फिर एक गर्म साँस छोड़ी, कहा—"अच्छा, चलो। हम लोग चलें।"

कुल्ली जिस रास्ते से ले चले, वह नया था। मेरे पूछने पर कहा—"ज़रा ही दूर मेरा मकान है। अपनी चरण-रज से पवित्र तो कर दो।"

तब मैं ब्राह्मण था, इसलिये चरण-रज से पवित्र करने की ताक़त है,

मझता था। कुल्ली के मकान के साथ कुल्ली का देह भी संलग्न है
ाव-रूप से, इसलिये उसके पवित्र करने की बात भी मेरे मन में आई,
योंकि मैं देख चुका था, कुल्ली की भली बात का व्यंग्य रूप से लोग
ुरा अर्थ लगाते हैं, फलत: कुल्ली के पवित्र होने की जरूरत है। कुल्ली
ब तक के आचरण से किसी तरह भी अनाचरणीय मनुष्य नहीं। उसका
ह भाव लोगों में व्यक्त हो जाना चाहिए। चुपचाप कुल्ली के साथ
ला जा रहा था। पुराने बाजार से कुछ आगे चौरासी पर कुल्ली का
कान था। कुल्ली ने घर का ताला खोला। गृह की यह दशा देखकर
ने सोचा—कुल्ली त्यागी मनुष्य है। जंबुकों के वन में अकेला सिद्ध
दांत-केसरी की तरह रहता है। कुल्ली ने लालटेन जलाई। फिर कहा—
'यही झोपड़ी है। घर में मैं अकेला रह गया हूँ। कुछ जमींदारी है।
ड़के-बच्चे, जोरू-जाते कोई नहीं। दो इक्के चलवाता हूँ, शौक से रहता
ँ। यह आदमियों को अच्छा नहीं लगता। मान लो, कोई बुरी लत हो,
ो दूसरों को इससे क्या ? अपना पैसा बरबाद करता हूँ !"

बात मुझे संगत मालूम दी। मैंने कहा—"दूसरों की ओर उँगली
ठाए बिना जैसे दुनिया चल ही नहीं पाती।"

कुल्ली खुश होकर बोले—"हाँ, लेकिन दुनिया में हमारे-तुम्हारे-जैसे
ादमी भी हैं, जो लोगों के उँगली उठाने से घबराते नहीं।"

कुल्ली ने बड़े स्नेह के साथ मुझे पान दिया, और मेरे पान लेते वक्त
ारा मेरी उँगली दबा दी। मैं बहुत खुश हुआ यह सोचकर कि ससुराल
 संबंध से कुल्ली मेरे साले होते हैं, मुझसे दिल्लगी की है। मुझे खुश
खकर कुल्ली विचित्र तरह से तने। कुछ देर तक इस उत्तेजना का
ानंद लेकर बोले—"कल तुम्हारा न्योता है मिठाई का, लेकिन किसी
 कहना मत, क्योंकि यहाँ के लोग सीधी बात का टेढ़ा अर्थ लगाते हैं।
ल नौ बजे तक आ जाओ।" फिर बहुत दीन होकर बोले—"ग़रीबों पर
या की जाती है।"

आजकल जिस तरह लोग मेरा व्यंग्य नहीं समझते, उसी तरह पहले
ोगों का व्यंग्य मेरी समझ में न आता था। मैंने कुल्ली का आमंत्रण
वीकार कर लिया, और चलने को तैयार हुआ।

मेरे मुँह की ओर देखते हुए कुल्ली ने कहा—"पान भी क्या खूब-सूरत बनाता है तुम्हें ! तुम्हारे होंठ भी गजब के हैं। पान की बारीक लकीर रचकर, क्या कहूँ, शमशीर बन जाती है।"

कुल्ली हृदय की भाषा में कह रहे थे, मैं कुल अर्थ ससुराल के संबंध से लगाता हुआ बहुत ही प्रसन्न हो रहा था।

मैं बढ़ा। कुल्ली बड़े रास्ते तक आए, और नमस्कार करके कहा—"कल सबेरे नौ बजे इंतजार करूँगा।"

आठ का वक़्त हो गया था। मुझे मित्रवर कुल्ली की याद आई। तैयार होकर बाहर निकला। कुछ लोग बड़े रास्ते पर मिले। मुझे देखकर तारीफ़ करने लगे—डील-डौल, चाल-चलन की। मैं संयत मुद्रा से पैर बढ़ाए कुल्ली के घर की तरफ़वाले रास्ते को बढ़ा। देखा, कुल्ली रास्ते पर खड़े थे। देखने के साथ पूरी स्वतंत्रता के साथ क़दम उठाते हुए, मथुरा में नादिरशाह की सेना की तरह, मेरी तरफ़ बढ़े।

कुल्ली हृदय से लिपट गए—"आओ, आओ।" मुझे मालूम हुआ, गंगा और यमुना का संगम है।

कुल्ली बड़े आदर से मुझे अपने घर ले गए। एक बड़ा आईना चारो ओर तीन-लड़ माला से सजा था। मेरे जाने के साथ-ही-साथ पकड़कर सामने जाकर खड़े हुए। मैंने देखा, विना माला पहने हम दोनो माला पहने हुए हैं। कुल्ली की कला पर जी मुग्ध हो गया। कुल्ली आईने में ही मुझे देखकर हँसे। देखकर मैं भी मुस्किराया। कुल्ली बहुत प्रसन्न होकर बोले—"अच्छा !"

फिर जल्दी-जल्दी भीतर एक कमरे में गए, और मिठाई की तश्तरी उठा लाए। पलंग के सामने एक ऊँची चौकी रक्खी थी, उस पर रख दी। फिर जल-भरा लोटा और गिलास वहीं रख दिया, और मुझसे बड़े विनय स्वरों से खाने के लिये कहा।

मैं खाने लगा। कुल्ली विनीत चितवन से मेरा खाना देखते रहे। भोजन समाप्त होने पर उन्होंने हाथ धुलाया-पोंछाया। फिर पान दिया।

पान खाकर मैं पलंग पर बैठा। बड़ा सुंदर पलंग। सुंदर ग़लीचा

बिछा। कुल्ली ने इत्र की एक शीशी दिखाई। कहा—"मैंने मँगा लिया है। रूह् नहीं, क्योंकि मालिश तो करनी नहीं।"

मैं अज्ञातयौवन युवक की तरह कुल्ली को देखने लगा। कुछ देर तक कुल्ली स्तब्ध रहे। मैंने देखा, कुल्ली का चेहरा बहुत विकृत हो गया है। मतलब कुछ मेरी समझ में न आया। कुल्ली अधीरता से एक दफ़ा उचके, लेकिन उचककर वहीं रह गए। मैं सोच रहा था, इसे कोई रोग है। कुल्ली ने एक दफ़ा भरसक प्रेम की दृष्टि से मुझे देखते हुए कहा—"तो मैं दरवाजा बंद करता हूँ।"

लेकिन आवाज़ के साथ जैसे लरबराकर रह गए। कुल्ली से मुझे भय हुआ, इसलिये नहीं कि कुल्ली मेरा कुछ कर सकता है, बल्कि इसलिये कि कुल्ली के लिये जल्द डॉक्टर दरकार है। घबराकर मैंने कहा—"क्या डॉक्टर बुला लाऊँ?"

"ओह! तुम बड़े निठुर हो।" कुल्ली ने कहा।

मैं बैठा सोच रहा था कि कुल्ली की इस ऐंठन से मेरी निठुरता का क्या संबंध है। सोचकर भी कुछ समझ न पाया।

कुल्ली एकाएक उचके, अब के भरसक ज़ोर लगाकर, यह कहते हुए—"मैं ज़बरदस्ती ··"

मुझे हँसी आ गई, खिलखिलाकर हँसने लगा। कुल्ली जहाँ थे, वहीं फिर रह गए। और, वैसे ही कुएँ में डूबे हुए-जैसे कहा—"मैं तुम्हें प्यार करता हूँ।"

मैंने कहा—"प्यार मैं भी तुम्हें करता हूँ।"

कुल्ली सजग होकर तन गए, कहा—"तो फिर आओ।"

मेरी समझ में न आया कि कुल्ली मुझे बुलाता क्यों है। मैंने कहा—"आया तो हूँ।"

कुल्ली ने मुझसे पूछा—"तो क्या और कहीं भी नहीं······?"

बात एक भी मेरी समझ में ज्यों-ज्यों नहीं आ रही थी, त्यों-त्यों गुस्सा बढ़ रहा था। बोला—"साफ़-साफ़ कहो, क्या कहते हो?"

कुल्ली पस्त, जैसे लत्ता हो गए।

"अच्छा, नमस्कार।" कहकर मैं बाहर निकला। वह रूप मुझे बिलकुल पसंद नहीं, इतना ही समझा।

19283

कुल्ली की पहली मुलाक़ात का अंत हुआ ।

कालांतर में कुल्ली से कई मुलाक़ातें हुईं ! समय का प्रभाव कुल्ली पर बहुत पड़ा । अब यह वह कुल्ली नहीं । इनमें सच्चा मनुष्य निकल आया, जिससे बड़ा मनुष्य नहीं होता । यह कुल्ली की पूर्ण परिणति थी । देश में अछूतोद्धार की समस्या थी । कुल्ली ने अछूत पाठशाला खोली । कोसों पैदल चलकर कांग्रेस के मेंबर बनाए । एक मुसलमानिन को बैठाकर नामर्द हिंदुओं के आगे आदर्श रक्खा । अयोध्याजी में मंत्र दिलाकर उसे शुद्ध किया ।

कुल्ली में मनुष्यत्व रह-रहकर विकास पा रहा था । मुख पर दिव्य कांति क्रीड़ा कर रही थी । वह अदालती फ़ैशन का बिगड़ा कुल्ली आदर्श आदमी बन गया ।

मैं लखनऊ आकर रहने लगा था, लेकिन इस बार जी नहीं लगा । कोई शक्ति मुझे दलमऊ की तरफ़ खींच रही थी, वहाँ की श्यामल-सजल प्रकृति, निर्मल गंगा, सुंदर घाट, दिगंत विस्तार रह-रहकर याद आने लगा । सबसे अधिक आकर्षण कुल्ली का । एक जैसे पारलौकिक स्नेह मौन आमंत्रण दे रहा था—तुम आओ, तुम आओ । इसी समय याद आया, बहुत दिनों से दलमऊ की कतकी नहीं नहाई । इस बार चलकर नहाएँ ।

इस तरह तीन-ही-चार महीने के अंदर फिर दलमऊ गया ।

इक्का ससुराल के सामने रास्ते पर रुका । आदमी आया । सामान उतार ले गया । सासुजी फाटक के सामने खड़ी हुईं । इक्केवाले को पैसे दिला दिए । उतरकर मैंने उनके चरण छुए । भीतर गया । सलहज साहबा तिदरे के सामने आकर खड़ी हुईं । यह स्वागत था—कलश उनके प्राकृतिक थे, साक्षात् प्रकृति को मन में नमस्कार किया । त्रुटियाँ बहुत होती हैं, लेकिन इनकी कृपा के बिना पर्दा पार करना दुःसाध्य है, बहुत पहले से जानता था । भविष्य की भगवान् जाने । साले साहब भीतर थे, बाहर निकले । कहा—"जीजा, कुल्ली सख्त बीमार हैं, आप बड़े मौक़े से आए । मुलाक़ात हो जायगी ।"

मैंने पूछा—"हुआ क्या है ?"

उन्होंने मुँह बिगाड़कर कहा—"गर्मी । पहले थी, इधर दौड़े बहुत,

क्वार की धूप सिर से उतरी, फ़ाक़े किए, बीमार हो गए। लेकिन जीजा, यहाँ कोई गाँव नहीं, जहाँ कुल्ली ने कांगरेस के नियमवर (मेंबर) नहीं बनाए। नीचे का पेट तक सड़ गया है। सेरों पस निकलता है। इतनी बदबू आती है कि कोई छन-भर नहीं ठहर सकता। और लिंग लापता है।''

दूसरे दिन धूप निकलने पर मैं कुल्ली के यहाँ गया। बाद में लारी पर कुल्ली को रायबरेली ले जाया गया। उत्तरदायित्व बढ़ गया। दलमऊ के स्वयंसेवकों को लेकर कांग्रेस-कमेटी के दफ़्तर गया।

कुल्ली की मदद कर मैं रायबरेली से दलमऊ चला आया। दो-ही-तीन रोज़ में मालूम हुआ, कुल्ली का देहांत हो गया है; उनकी लाश दलमऊ लाई जा रही है। दलमऊ के स्वयंसेवक, अछूत और कांग्रेस-कार्यकर्ता जुलूस निकालेंगे। फिर नाव पर शव लेकर गंगाजी के उस पार अंतर्वेद में जलाएँगे। दाह के लिये कुल्ली-वंश के कोई दीपक बुलाए गए हैं। उनकी स्त्री चूँकि विवाहिता नहीं, इसलिये उसके हाथ अंतिम संस्कार न कराया जायगा। मैं स्तब्ध हो गया कुल्ली का यह परिणाम देखकर, लेकिन साथ ही क़स्बे-भर के मनुष्यों की उमड़ती हुई सहानुभूति से आश्चर्य भी हुआ। एक साधारण आदमी देखते-देखते इतना असाधारण हो गया ! दुःख था, अब कुल्ली से मुलाक़ात न होगी। कुल्ली मुझे क्या समझने लगे थे, यह लिखकर क़लम को कलंकित न करूँगा। उनके जीवन पर किसकी गहरी छाप थी, यह मुझसे अधिक कोई नहीं जानता। कुल्ली साधारण आदमी थे, हिंदी के सुप्रसिद्ध व्यक्ति प्रेमचंदजी और 'प्रसाद'जी अंतिम समय में अपना एक-एक सत्य मुझे दे गए थे; वह मेरे ही पास रहेगा, इसलिये कि उसकी बाहर शोभा न होगी, कदर्थ होगा; उनकी महान् आत्माएँ कुंठित होंगी। ऐसा ही एक सत्य कुल्ली के पास भी था। मनुष्य अपने समझे हुए जीवन की समझ ऐसे ही परिवर्तन के समय पाता है, और देता है। कुल्ली कुछ पहले दे चुके थे, इन लोगों ने बाद को दी, इसलिये कि इनमें स्पर्द्धा थी, इनसे स्पर्द्धा करनेवाला हिंदी में न था।

दूसरे की मैं नहीं जानता, मुझ पर एक प्रकार का प्रभाव पड़ता है, जो दुःख नहीं, नशे की तरह का है, जब किसी प्रियजन का वियोग होता

है, या वैसा भय मुझमें आता है। कुल्ली का देहांत हो गया है, मैंने बैठके में सुना था। कुल्ली की लाश दलमऊ पहुँची, उस समय मैं बैठके में था। स्वयंसेवक दो बार बुलाकर तीसरी बार बुलाने आया, जब जुलूस निकल रहा था। मैं वहीं था, न जा सकने की बात कही। कुल्ली को फूँककर लोग वापस आए, मैं वहीं बैठा था। घर के लोग देख-देखकर लौट गए। शाम को प्रकृतिस्थ होकर भोजन किया। कुल्ली की स्त्री चिल्ला-चिल्लाकर आसमान फाड़ रही है, सुना करता था; जा नहीं सका। दस दिन हो गए। कुल्ली का दसवाँ समाप्त हो गया। अवश्य मुझे यह मालूम न था कि कुल्ली का दसवाँ हो गया, एकादशाह है।

एकादशाह के दिन दस बजे के क़रीब कुल्ली की स्त्री को देखने गया। उस समय वहाँ एक घटना हो गई थी, इसलिये कुल्ली की स्त्री में कुल्ली की अपेक्षा मुसलमानिनवाला भाव प्रबल था।

मुझसे स्वर को खींचकर कहा—"नंबरदार तो चले गए, उनका सब काम हो गया, लेकिन दस दिन तक जो लोग आए, रहे, वे आज एकादशाह को क्यों नहीं आएँगे? मैं आपसे पूछती हूँ, यह हिंदुओं का खरापन है या दोग़लापन?"

बात कुछ मेरी समझ में नहीं आई। मैंने कहा—"भाव ज़रा और साफ़ करके बताइए। मैं इतने से नहीं समझा।"

श्रीमती कुल्ली दोनो हाथ के पंजे उठाकर उपदेश की मुद्रा से बोलीं—"देखिए, आप तो आए नहीं; नंबरदार को दाग़ दिया—उनके हैं कोई, मैं नहीं जानती; अच्छा भाई, दाग़ दिया, तो दिया; दस रोज़ माना, ठीक है; दसवें दिन पंडित और टोला-पड़ोस, गाँव-घर के सब आदमी थे, दाग़ देनेवाले ने मुझसे कहा, इतना तो हम कर देते हैं।" लेकिन सालभर हम न मान सकेंगे। हमें काम है, फिर हमारे चाचा भी बीमार हैं। अरे हाँ, कुछ हो जाय, तो उनके भी कोई नहीं, इसलिये सपिंडी तुम ले लो। पंडित ने भी कहा—"ठीक है, ले लो।" गाँव से दस भलेमानुसों ने भी कहा। मैंने कहा, अच्छी बात है। पंडित जब कहते हैं, तबले लें। सपिंडी ले ली। अब आज होम है। पंडित को बुलाया, तो कहते हैं, हम न जायँगे।"

मैंने पूछा—"क्यों ?"

जो बुलाने गया था, वह एक अछूत लड़का था। उसने कहा—"मन्नी पंडित ने कहा है, एक तो यों ही हमारी बहन की शादी नहीं होती, क्योंकि हम गंगापुत्रों के यहाँ पंडिताई करते हैं, कुल्ली की स्त्री के घर होम कराने जायँगे, तो कोई पानी भी न पिएगा।"

"सुन लिया आपने ?" कुल्ली की स्त्री ने कहा—"यही मन्नी पंडित कल कहते थे—'सपिंडी ले लो।' अगर तुम्हें काम नहीं करना था, तो तुमने कहा क्यों ? और जब कहा, तब आओगे कैसे नहीं ? दस आदमी गवाह हैं।"

मैंने कहा—"यह अदालत तो है नहीं। जो नहीं जाना चाहता, उसे दूसरे मजबूर नहीं कर सकते।" मन्नी पंडित की दशा मुझे मालूम थी। वह कुलीन कान्यकुब्ज हैं। उनकी बहन प्रायः बीस साल की हो गई थी, कोई ब्याह नहीं करता था। कारण, वह गंगापुत्रों के यहाँ यजन करते थे, उनका धान्य लेते थे। मन्नी के लिये दूसरा उपाय जीविका का न था।

मैंने कहा—"आप घबराइए नहीं। आपका काम हो जायगा।"

कुल्ली की स्त्री ने आश्वास की साँस ली। कहा—"अब आप ही लोग हैं!" कहकर, कृत्रिम करुणा से जैसे कंठावरोध हो गया—आँखों में आँसू आ गए हों,—आँचल एक दफ़ा आँखों पर फेर लिया। फिर जोश में आकर बोली—"बिना आपके गए वह न आएँगे। आप ऐसे ही कहिएगा कि..."

"मैं समझ गया," मैंने कहा—"मेरी वहाँ जरूरत नहीं। नहाकर मैं यहीं आता हूँ। तब तक आप एक दफ़ा पंडित को और बुला भेजें। मैं अभी आता हूँ। वह न आएँगे, तो मैं हवन करा दूँगा।"

कुल्ली की स्त्री को जान पड़ा, साक्षात् वशिष्ठजी उनके घर जा रहे हैं।

मैं ससुराल की तरफ़ लौटा। रास्ते में ज्योतिषीजी का मकान है। इस खानदान पर मेरी एक-सी श्रद्धा चली आती है। ज्योतिषीजी मुझसे बड़े हैं। प्रणाम कर मैंने तिथि और संवत् वग़ैरा पूछा। ज्योतिषीजी

चौंके । मैं किस काट और कोटि का आदमी हूँ, जानते हैं । पूछा—"क्या करोगे ? तुम और तिथि !"

मैंने कहा—"मन्नी पंडित बहन के ब्याह के डर से कुल्ली के घर नहीं जाना चाहते । हवन कराऊँगा । 'मासानां मासोत्तमे' तो हर महीने आप लोग कहते हैं । संकल्प में तिथि जान लेना ज़रूरी है ।"

पंडितजी ने पूछा—"हवन कैसे कराओगे ? क्या तुम यह सब जानते हो ?"

"जानता तो दरअसल कुछ नहीं", मैंने कहा, "लेकिन यह जानता हूँ कि हवन में ब्रह्म से लेकर देव-दानव, यक्ष-रक्ष, नर-किन्नर, सबमें चतुर्थी लगती है, बाद में 'स्वाहा' । और, इतनी संस्कृत मुझे आती है कि कुल बातें अपनी रची संस्कृत में करूँ । यहाँ के पंडितों से क्रिया शुद्ध होगी । क्या कहते हैं ?"

पंडितजी ने कहा—"हाँ, यह तो है ।"

"अच्छा, पंचांग दीजिए !" मैंने कहा—"जल्दी है ।"

पंचांग लेकर ससुराल गया । मेरे हाथ में देशी जूता देखकर सासुजी को उतना आश्चर्य न होता, जितना पंचांग देखकर हुआ । पूछा—"यह क्या है भैया ?"

"पंचांग ।" मैंने कहा—"चौकी और घड़ा-भर पानी रखा दीजिए । जल्दी है, नहा लूं ।"

"क्या है ?" सासुजी ने आश्चर्य से पूछा ।

"मन्नी पंडित कुल्ली के एकादशाह को नहीं गए, सपिंडी कुल्ली की स्त्री ने ले ली है, इसलिये; कहते हैं, एक तो यों ही गंगापुत्रों की पुरोहिती के कारण लोग पानी पीते डरते हैं, फिर तो बहन बैठी ही रह जायगी ।" पंचांग रखकर मैं कपड़े उतारने लगा ।

शंकित होकर सासुजी ने कहा—"तो तुम यह सब क्या जानो ?"

"मैं जानता हूँ ।" मैंने कहा ।

"तो तुम वहाँ पुरोहिती करने जाओगे ?"

"हाँ । और, एक जोड़ा जनेऊ निकाल लीजिए, पहन लूं नहाकर ।"

सासुजी घबराईं । कहा—"बच्चा, तुम हमें मेटोगे !"

"कैसे ?" चौकी की ओर चलते हुए पूछा।

"ऐसे कि लोग हमारे यहाँ का खान-पान छोड़ेंगे।"

मैंने कहा—"मैं आपका ससुर हूँ या अजियाससुर ?" मेरे पापों का फल आपको क्यों भुगतना पड़ेगा, मेरा दिया हुआ पिंड-पानी जब कि आपको नहीं मिल सकता। आप मुझे चौके में न खिलाइए, बस।"

सासुजी रोने लगीं। मैं नहाने लगा। नहाकर जनेऊ पहना। कहा—"मैं जनेऊ नहीं पहनता, यहाँवाले जानते थे। तभी यहाँ का खान-पान छोड़ दिया होता। मैं ढोंगियों को जानता हूँ।"

नहाकर कपड़े पहने। चलने को हुआ, तो सासुजी को जैसे होश हुआ। बोलीं—"खाए जाओ।"

मैंने कहा—"लौटकर खाऊँगा।"

"नहीं", सासुजी ने कहा—"तुम वहाँ खा लोगे।" अपनी बहू से कहा—"गुड्डो, परस तो जल्दी।"

जल्दी-जल्दी भोजन कर मैं निकला। देखता हूँ, चारों ओर से लोगों का ताँता बँधा है—सब कुल्ली के घर जा रहे हैं। १९३७ ई० में काफ़ी प्रसिद्ध हो चुका था, कुछ प्राचीन भी, ४० पार कर चुका था। एकादशाह कराने जा रहा हूँ, वहाँ के जीवन में सबसे बड़ा आश्चर्य था।

कुल्ली के घर में आदमी नहीं अँट रहे थे। सबमें कौतूहल की दृष्टि। कुल्ली की स्त्री में भी वैसी ही श्रद्धा। वह समझती थी, मैं कृतार्थ हो गई! लोग मुझे देखकर शर्मा-शर्माकर कानाफूसी करने लगते थे। बहुतों को यह शंका थी, यह कैसे कराएँगे। मैं निश्चित था। मुख देखकर लोगों को विश्वास हो जाता था।

यथासमय मैं आँगन में जाकर बैठा। सामने हाथ जोड़कर कुल्ली की स्त्री बैठी। लोग कोई खड़े, कोई बैठे। कोई भीतर, कोई बाहर। मैं चौक पूरने लगा। सुरबग्घी लड़कपन में बहुत खेल चुका था। वैसा ही एक चौकोर घेरा बनाया। लेकिन जानता था कि नौ कोठे नवग्रहों के बनते हैं, बनाए। बालू की वेदी पर हवन की लकड़ी रक्खी। घट में स्वस्तिका बनाई। सामने गौर रक्खी। घट का दिया जलाया।

मंत्र पढ़ते वक़्त बार-बार अटकता था, क्योंकि पंडिताऊ स्वर नहीं

निकल रहा था। कुछ देर सोचता रहा, ब्रजभाषा-काल में हूँ, सूरदास का सूरसागर और तुलसीदास की रामायण पढ़ रहा हूँ। अपने आप वैसा ही मनोमंडल बन गया। फिर क्या; अपनी संस्कृत शुरू की। संकल्प, गणेश-पूजन, गौरी-पूजन, घट की प्राण-प्रतिष्ठा करने लगा। लोग प्रभावित हो गए। खड़े जो जैसे रहे, रह गए, जैसे कवि-सम्मेलन में कविता पढ़ते वक़्त होता है। पूजन कराकर हवन कराने लगा, उँगली के पोरों में संख्या रख रहा हूँ, दिखाता हुआ। घी मेरे पास था, सांकल्य कुल्ली की स्त्री के पास। कुछ जाने-पहचाने नाम तो लिए, फिर जो जीभ के सामने आया, उसी के पीछे चतुर्थी जोड़कर 'स्वाहा' कहने लगा। कह दिया था, मेरे कहने के बाद कुल्ली की स्त्री स्वाहा कहती थी। हवन में जितनी देर लगती है, लगी। देखनेवाले अब तक पूर्ण रूप से आश्वस्त और विश्वस्त हो गए थे। पीछे की गर्द झाड़कर उठ-उठ चलने लगे थे। कुछ सहनशील बैठे हुए थे।

हवन पूरा हो जाने पर साल-भर ब्रह्मचर्य के साथ पति की क्रिया करते रहने की प्रतिज्ञा कराई, यहाँ भी अपनी संस्कृत थी—'मैं पं० पथवारीदीन की धर्मपत्नी' की संस्कृत उपस्थित लोगों में प्रायः सभी समझे। सुनकर मुस्किराए। एक छोर से दूसरे छोर तक दौड़ी इस मुस्कान के भीतर मैंने कुल्ली की एकादशाह-क्रिया समाप्त की। यजमान को आशीर्वाद देकर सीधा भेज देने के लिये कहा, और बाहर निकला।

बाहर निकल रहा था कि आलोचना सुन पड़ी—"सब ठीक हुआ। बन गई कुल्ली की।"

खाँसकर गंभीर मुद्रा से मैं ससुराल की तरफ़ बढ़ा।

*　　　*　　　*

शाम को कुल्ली के यहाँ से सीधा आया। मैंने सासुजी से कहा—"रखा लीजिए। आप लोग इसमें से कुछ न लीजिए। कल पूड़ी बना दीजिएगा।"

देखकर सासुजी ने कहा—"एक दफ़े में तुम्हारे खाए न खाया जायगा, इतना घी है।" मैं गंभीर होकर रह गया।

दूसरे दिन सबेरे, जैसी आदत थी, चिकवे के यहाँ से गोश्त ले आया। देखकर सासुजी ने कहा—"भैया, तुम तो आज पूड़ी खाने के लिये कहते थे।"

मैंने कहा—"कुल्ली की स्त्री पहले मुसलमानिन थीं; इसलिये प्रकृति ने उनके संस्कारों के अनुसार मुझे गोश्त खाने के लिये प्रेरित किया है। इसमें दोष नहीं।"

कालांतर

"मुसीबत में कटे हैं दिन, मुसीबत में कटी रातें !"

"गया दिन, आई रात,
आया दिन, गई रात,
ऐसे ही बीते कई पक्ष, मास !"

—'निराला'

मेरी पहली रचना

(मैं ही वसंत का अग्रदूत)

जिस तरह संसार के बड़े-बड़े कवियों के लिये कहा जाता है कि सात-आठ साल की उम्र से कविता लिखने लगे थे, उसी प्रकार अल्प-बुद्धि मैं भी लिखने लगा था। लेकिन, तब बँगला में लिखता था। अब उसका कोई चिह्न शेष नहीं। व्याकरण की शिक्षा पूरी करने के पहले 'जुही की कली' लिखी थी, जो व्याकरण की दृष्टि से बाद को पूरी उतरी।

*　　　*　　　*

अनेक आवर्तन-निवर्तन के बाद मैं पूर्ण रूप से साहित्यिक हुआ। कुछ ही दिनों में कविता-क्षेत्र में जैसे चूहे लग जायें, इस तरह कवि-किसानों और जनता-जमींदारों में मेरा नाम फैला। साल ही भर में इलाहाबाद के श्रीहर्ष और कलकत्ते के कालिदास हिंदी के काव्य का उद्धार करने के लिये आ गए, एक ही समय में। पुराने स्कूलवालों ने अपनी मोर्चाबंदी की, और लड़ाई छेड़ दी, पर हार-पर-हार खाते गए; कारण, बुद्धि की बारूद नहीं थी। एयरमन की फुट्ट-फैर होकर रह गई। इस तरह अब तक अनेक लड़ाइयाँ हुईं। पर नए लड़नेवालों से लड़ने पर पुराने बराबर हारे हैं।

अस्तु, हिंदी के काव्य-साहित्य का उद्धार और साहित्यिकों के आश्चर्य का पुरस्कार लेकर मैं गाँव आया। गाँव से ससुराल गया।

इस समय, कुछ प्रसिद्ध हो जाने के कारण, बस्ती के स्कूल-कॉलेज के पढ़नेवाले लड़के भी आते थे, उन्हें भी समय देना पड़ता था। प्रायः

सबका पहला प्रश्न 'छायावाद क्या है' रहा। मैं उत्तर देता-देता अभ्यस्त हो गया था। समझने में देर न होती थी, यद्यपि लड़कों की समझ में कुछ न आता था। बाद को आश्वासन देता था कि बाद को समझिएगा।

इन्हीं दिनों श्रीमान् बाबू इक़बाल वर्मा साहब 'सेहर' से वहाँ मुलाक़ात हुई। अपनी सज्जनता और शुद्ध साहित्यिकता के कारण वह स्वयं पहले मुझसे मिलने आए थे—यह मालूम कर कि मैं वहाँ हूँ। मुझे यह जानकर बड़ी खुशी हुई कि 'सेहर' साहब की और मेरी एक ही बस्ती में ससुराल है।

'सेहर' साहब ने कविता सुनाने की आज्ञा दी, मैंने सुनाई। सब जगह एक बात मैंने देखी, मेरी कविता पढ़कर लोग नहीं समझे, सुनकर समझे, और इतना समझे कि मुझे 'श्रुति' पर ही कविता को छोड़ना पड़ा।

हिंदी में 'जुही की कली' मेरी पहली रचना है। आलोचकों द्वारा इसका सौंदर्य-प्रदर्शन नहीं किया गया। यह ऐसी रचना नहीं कि सूक्ति-रूप इसका एक अंश उद्धृत किया जा सके। इसकी कला इसके संपूर्ण रूप में है, खंड में नहीं। सूक्तियाँ, उपदेश मैंने बहुत कम लिखे हैं, प्राय: नहीं, केवल चित्रण किया है।

* * *

मैं कवि हूँ, पाया है प्रकाश,
मैंने कुछ अह - रह - रह निर्भर—
ज्योतिस्तरणा के चरणों पर।
सोचा है नत हो बार - बार,
यह हिंदी का स्नेहोपहार।
यह नहीं हार मेरी भास्वर;
यह रत्न - हार लोकोत्तर वर।
अन्यथा जहाँ है भाव शुद्ध—
साहित्य - कला - कौशल - प्रबुद्ध।

हैं दिए हुए मेरे प्रमाण—
कुछ वहाँ प्राप्ति को समाधान।
पार्श्व में अन्य रख कुशल हस्त—
गद्य में, पद्य में समाभ्यस्त!!

—'निराला'

'समन्वय', 'मतवाला' और 'रँगीला'

पूज्यपाद आचार्य द्विवेदीजी महाराज ने समन्वयवालों से मेरा परिचय कराया। क्रमशः अनुकूल समय के आने पर मैं 'समन्वय' का संपादक (प्रत्यक्ष विचार से सहायक) होकर कलकत्ता गया। द्विवेदीजी ने मेरे लिये कई प्रयत्न किए। मुझ पर द्विवेदीजी की पहले बड़ी कृपा थी, बाद में मेरे 'मतवाला' में चले जाने से और असमर्थित साहित्य की सृष्टि करने से असंतुष्ट हो गए थे।

हिंदी के दुर्भाग्य से 'समन्वय'-जैसा पत्र नहीं चला। कई साल के घाटे के बाद पत्र को बंद कर देना पड़ा।

महफ़िल में
(स्वामी प्रेमानंदजी महाराज)

ग्रामीण जनों का निश्चय बंध चुका है—
स्वामी प्रेमानंदजी उत्सव में आएँगे ।
भेजा गया भक्त एक[1],
स्वामीजी को लेने को युवक एक पश्चिम के
प्रांत का, जिसके पिता
बंग देश गए थे,
फिर वहीं बसे । तरुण वह
ले आया स्वामी को ।
पूजानुष्ठान हुआ ।
पश्चिमीय तरुण ने
श्रीसुतीक्ष्ण की कथा
रामचरितमानस से
पढ़ी, मधुर कंठ से ।
बंदन रघुनंदन का
भक्ति से ओत-प्रोत ।
सभ्य जन आँसू बहाते हुए सुनते रहे ।
स्वामीजी ध्यान-मग्न
स्वर के स्तर से चढ़कर
सहस्रार में गए ।
लोकोत्तरानंद तभी सबकी समझ में आया ।

---

१. स्वयं 'निराला'

कथा परिसमाप्त हुई ।
गृह-स्वामी भोजन का
आयोजन करने लगे ।
वह पश्चिमीय भी बैठा था चुपचाप ।
पश्चिमीय की तरफ़ उँगली उठाई । कहा—
"ऐसा भी आदमी पंक्ति में बैठाला गया,
जिसके मा-बाप का पता आज तक न लगा ।
घोर कलिकाल है !"
स्वामीजी ने कहा—"इसी युवक को पहले
लाकर परोसो, अन्न-मिष्ठान्न जो कुछ हो;
यहीं से प्रारंभ इस भोजन का होता है ।
पाएँगे प्रसाद सभी ।"
पहले परोसा गया युवक को विनय से ।
कृष्णजी के दर्शन को
राजगढ़ के अभ्यंतर
स्वामीजी, तीन ब्रह्मचारी मैनेजर साहब
चले, पश्चिमीय वह युवक भी शांत हुआ ।
पश्चिमीय के लिये सदा का निषेध रहा
मंदिर-प्रवेश में ।
देखा बुद्धदेव ने ज्योति की-सी रेखा से
स्वामीजी के साथ पश्चिमीय का शरीर बँधा ।
पश्चिमीय जन वह मंदिर के बाहर रहा ।
स्वामीजी ने चलते समय कहा कि "मैं वही हूँ,
बाहर खड़ा है जो ।"
लौटे जब स्वामीजी,
साथ युवक हो गया मंत्र-मुग्ध प्रेम से ।

* * *

बंगाल में रहकर ('समन्वय'-संपादन-काल में) परमहंस श्रीरामकृष्ण देव तथा स्वामी विवेकानंदजी के साहित्य से मैं परिचय प्राप्त कर चुका था। दो-एक बार श्रीरामकृष्ण मिशन बेलूड़ दरिद्रनारायणों की सेवा के लिये भी जा चुका था। श्रीपरमहंस देव के शिष्य श्रेष्ठ पूज्यपाद स्वामी प्रेमानंदजी महाराज को महिषादल में अपनी तुलसी-कृत रामायण का सस्वर पाठ सुनाकर उनका अनुपम स्नेह तथा आशीर्वाद प्राप्त कर चुका था। दार्शनिकता की मात्राएँ दिमाग़ में बहुत ज्यादा थीं, जी घबरा उठता था।

भगवान् श्रीरामकृष्ण देव के पद को प्राप्त कर मेरे मनोराज्य के सत्य, शिव और सुंदर आचार्य श्रीमत् स्वामी शारदानंदजी महाराज हैं। एक दिन उनसे पूछा—यह संसार मुझमें है या मैं संसार में। इसके बाद एक दिन स्वप्न देखा—ज्योतिर्मय समुद्र है, श्यामा की बाँह पर मेरा मस्तक है, मैं लहरों में हिल रहा हूँ। उनका शरीर यंत्रमय, रामकृष्ण-मय हो गया। मैं उनका यंत्र हूँ।

शारदानंदजी मुझे रंगीन छाया की तरह ढककर हँसते हुए तर कर देते थे।

एक बार सिर में दर्द था। स्वामीजी ने अँगूठे और उँगली के बीच माथा दबाकर आगे की ओर खींचा। दर्द चला गया। उतनी प्रसन्नता मुझे जीवन-भर कभी नहीं मिली। सन् ३२ में जब 'अर्थ' (कहानी) लिखा, तब किताब पढ़ता था, तो अक्षर दिखाई न देते थे, आँखें मूँद लेते थे। सरस्वती परिणत होकर कहती, इस चिड़िया को पढ़ो। आँखें खोलते ही चूँ-चूँ करके एक चिड़िया को उड़ती हुई देखता था, उसमें तरह-तरह के अर्थ निकलते। कभी हनुमान्‌जी, कभी सिंदूर का सौभाग्य लिए पत्नी खड़ी मुस्किराती दिखती।

स्वामी शारदानंदजी इतने स्थूल थे कि उन्हें देखकर डर लगता था।

इस महादार्शनिक, महाकवि, स्वयंभू, मनस्वी, चिरब्रह्मचारी, संन्यासी, महापंडित, सर्वस्व-त्यागी, साक्षात् महावीर के समक्ष देवत्व, इंद्रत्व और मुक्ति भी तुच्छ थी।

'समन्वय'-संपादन-काल में मेरा परिचय 'मतवाला' के सुयोग्य संप

दक बाबू महादेवप्रसादजी सेठ★ से हुआ। श्रीमान् सेठजी को मेरी कविता में तत्त्व दिखलाई पड़ा, इसी पर उस वेदांत-विषयक नीरस सांप्रदायिक पत्र का संपादन-भार छोड़कर 'मतवाला' में आया।

मैं 'मतवाला' में व्याकरण पर आलोचनाएँ लिखा करता था। आलोचनाएँ यथार्थता लिए जितनी भी हों, कटुता लिए अवश्य थीं। आज जिन लेखकों और संपादकों पर मेरी श्रद्धा है, तब उस समय मैंने अपनी श्रद्धा उन्हें नहीं दी। आज मैं करबद्ध होकर कटुता से समालोचित पूज्य साहित्यिकों से क्षमा चाहता हूँ।

इधर ('मतवाला'-संपादन-काल में) कई प्रहार मिलने पर भी मैंने चुपचाप अपमान बरदाश्त कर लिया। असह्य उत्तेजना मिलने पर हमने उत्तर देने का विचार किया। उन सबके प्रतिकूल लिखकर मैं दुःखी भी हुआ हूँ। मेरा कवि सदा निरपराध रहा है, पर दुर्घटनाएँ मेरे ही साथ हुईं।

'मतवाला' निकालते वक्त चारो तरफ़ आवारागर्द की तरह सैकड़ों चक्कर लगाता, शंकर घोष लेन में, जहाँ से 'मतवाला' निकलता था।

'पुरुष प्रकृति तम, ज्योति दिवस, निशि कल्प-तल्प पर
एक 'रँगीला' रूप खिला सब विश्व चराचर।'

'मतवाला' के बाद 'रँगीला' अकेला बड़ी परेशानी में था। पहला अंक बाज़ार में ऊँचा कहा गया, दूसरा ठीक, पूरे कुल कालम भिन्न-भिन्न दूसरे ही नामों से मैंने ही भरे। पहला तो स्पष्ट ही। तीसरे में अस्वस्थ होकर गिरा दिया। चौथा सँभालने का विचार था, शिकस्त हो गया।

★ स्वर्गीय समादर्श मित्रवर 'मतवाला'-संपादक आदरणीय श्रीबाबू महादेवप्रसादजी सेठ मेरी रचनाओं के पहले प्रशंसक हैं। तब मेरी कृतियाँ पत्र-पत्रिकाओं से प्रायः वापस आती थीं। मैं भी उदास और निराश हो गया था। महादेव बाबू विद्वान् व्यक्ति थे, साथ-साथ तेजस्वी और उदार। यद्यपि उनसे मेरा परिचय मेरे समन्वय-संपादन-काल में हुआ, फिर भी वैदांतिक साहित्य से खींचकर हिंदी में परिचित और प्रगतिशील मुझे उन्होंने किया, अपना 'मतवाला' निकालकर। मेरा उपनाम 'निराला' मतवाला के ही अनुप्रास पर आया था। उनकी तारीफ़ में मैंने जब-जब कलम उठाई, लेखनी रुक गई। वह मुझे कितना चाहते थे, इसका उल्लेख असंभव है, और यह ध्रुव सत्य है कि वह न होते, तो 'निराला' भी न आया होता।

......अकेला था, सब विषय हर हफ्ते कहाँ तक पूरे करूँ, छापे की ग़लतियाँ भी होती थीं। प्रेस अपना नहीं, प्रेस की मशीन अपनी नहीं, अपनी इच्छा की मैंने प्रतिकूलता की मित्रों के अनुकूल होने के लिये।

मैं अकेला !
देखता हूँ आ रही मेरे दिवस की सांध्य-वेला,
पके आधे बाल मेरे, हुए निष्प्रभ गाल मेरे।
चाल मेरी मंद होती जा रही, हट रहा मेला।
जानता हूँ नदी-झरने, जो मुझे थे पार करने;
कर चुका हूँ, हँस रहा हूँ, देख कोई नहीं मेला।

—'निराला'

कुँवर का ब्याह

बहुत दिनों की बात है। तब मैं लगातार साहित्य-समुद्र-मंथन कर रहा था, पर निकल रहा था केवल गरल। पान करनेवाले अकेले महादेव बाबू (मतवाला-संपादक) शीघ्र रत्न और रंभा के निकलने की आशा से अविराम मुझे मथते जाने की सलाह दे रहे थे। यद्यपि विष की ज्वाला महादेव बाबू की अपेक्षा मुझे ही अधिक जला रही थी, फिर भी मुझे एक आश्वासन था कि महादेव बाबू को मेरी शक्ति पर मुझसे भी अधिक विश्वास है। इसी पर वेदांत-विषयक नीरस एक सांप्रदायिक पत्र* का संपादन-भार छोड़कर मनसा, वाचा, कर्मणा सरस कविता-कुमारी की उपासना में लगा। इस चिरंतन चिंतन का कुछ ही महीने में फल प्रत्यक्ष हुआ। साहित्य-सम्राट् गोस्वामी तुलसीदासजी की मदन-दहन समयवाली दर्शन-सत्य उक्ति हेच मालूम दी, क्योंकि गोस्वामीजी ने उस समय दो ही दंड के लिये कहा है—'अबला बिलोकहिं पुरुषमय अरु पुरुष सब अबलामय' पर मैं घोर सुषुप्ति के समय को छोड़कर बाक़ी समय जाग्रत् के समस्त दंड ब्रह्मांड को अबलामय देखता था। इसी समय दरबान से मेरा नाम लेकर किसी ने पूछा—"है?"

मैंने जैसे वीणा-झंकार सुनी। सारी देह पुलकित हो गई, जैसे प्रसन्न होकर पीयूषवर्षी कंठ से साक्षात् कविता-कुमारी ने पुकारा हो, बड़े अपनाव से मेरा नाम लेकर। एक साथ कालिदास, शेक्सपियर, बंकिमचंद्र और रवींद्रनाथ की नायिकाएँ दृष्टि के सामने उतर आईं।

आप ही एक निश्चय बँध गया। अवश्य यह बेथून कॉलेज की छात्रा है। कविता से प्रेम होगा। मेरे छंद की स्वच्छंदता कुछ आई होगी इनकी समझ में, तभी बाक़ी समझने के लिये आई हैं।

---

* समन्वय।

उठकर जाना अपमानजनक जान पड़ा। वहीं से दरबान को ले आने की आज्ञा दी।

अपना नंगा बदन याद आया। ढकता, कोई पकड़ा न था। कल्पना में सजने के तरह-तरह के सूट याद आए, पर वास्तव में दो मैले कुर्ते थे। बड़ा गुस्सा लगा प्रकाशकों पर। कहा, नीच हैं, लेखकों की क़द्र नहीं करते। उठकर मुंशीजी के कमरे में गया, उनकी रेशमी चादर उठा लाया। क़ायदे से गले में डालकर देखा, फबती है या नहीं। जीने से आहट नहीं मिल रही थी, देर तक कान लगाए बैठा रहा। बालों की याद आई—उकस न गए हों। जल्द-जल्द आईना उठाया। एक बार मुंह देखा, कई बार आँखें सामने रेल-रेलकर। फिर शीशा बिस्तरे के नीचे दबा दिया। शॉ की 'गेटिंग मैरेड' सामने करके रख दी। डिक्शनरी की सहायता से पढ़ रहा था, डिक्शनरी किताबों के अंदर छिपा दी। फिर तनकर गंभीर मुद्रा से बैठा।

अगंतुका को दूसरी मंजिल पर आना था। जीना गेट से दूर था।

फिर भी देर हो रही थी। उठकर कुछ क़दम बढ़ाकर देखा, मेरे बचपन के मित्र मिस्टर सुकुल आ रहे थे।

बड़ा बुरा लगा, यद्यपि कई साल बाद की मुलाक़ात थी। कृत्रिम हँसी से होंठ रँगकर उनका हाथ पकड़ा, और लाकर उन्हें बिस्तरे पर बैठाला।

बैठने के साथ ही सुकुल ने कहा—"श्रीमतीजी आई हुई हैं।"

मेरी रूखी जमीन पर आषाढ़ का पहला दौंगरा गिरा। प्रसन्न होकर कहा—"अकेली हैं, रास्ता नहीं जाना हुआ, तुम भी छोड़कर चले आए। बैठो तब तक, मैं लिवा लाऊँ—तुम लोग देवियों की इज्जत करना नहीं जानते।"

सुकुल मुस्किराए। कहा—"रास्ता न मालूम होने पर निकाल लेंगी—ग्रेजुएट हैं, ऑफ़िस में 'मतवाला' की प्रतियाँ खरीद रही हैं—तुम्हारी कुछ रचनाएँ पढ़कर, खुश होकर।"

मैं चल न सका। गर्व को दबाकर बैठ गया। मन में सोचा कवि की कल्पना झूठ नहीं होती। कहा भी है, 'जहाँ न जाय रवि, वहाँ जाय कवि।'

कुछ देर चुपचाप गंभीर बैठा रहा। फिर पूछा—"हिंदी काफ़ी अच्छी होगी इनकी ?"

"हाँ", सुकुल ने विश्वास के स्वर से कहा—"ग्रेजुएट हैं।"

बड़ी श्रद्धा हुई। ऐसी ग्रेजुएट देवियों से देश का उद्धार हो सकता है, सोचा। निश्चय किया, अच्छी चीज़ का पुरस्कार समय देता है। ऐसी देवीजी के दर्शनों की उतावली बढ़ चली, पर सभ्यता के विचार से बैठा रहा, ध्यान में उनकी अदृष्ट मूर्ति को भिन्न-भिन्न प्रकार से देखता हुआ।

एक बार होश में आया, सुकुल को धन्यवाद दिया।

मैं विचार में था। जब आँख खुली, साकार सुघरता मेरे सामने थी, अविचल दृष्टि से मुझे देखती हुई। अंजलि बाँधकर नमस्कार किया, ललित अँगरेजी में संबोधित करती हुई। मैं उठा। नमस्कार कर, सुकुल के नज़दीकवाली कुर्सी पर बैठने के लिये बड़े अदब से हाथ बढ़ाकर बताया।

वह खड़ी थीं। लहराती हुई मंद गति से चलीं। बैठकर, मुझे देख-कर मुस्किराती हुई बोलीं—"आप खूब लिखते हैं।"

प्यासा मृग-मरीचिका के सरोवर का व्यंग्य नहीं समझता। मुझे यह पहली तारीफ़ मिली थी। इच्छा हुई जाऊँ, महादेव बाबू ('मतवाला'-संपादक) को भी बुला लाऊँ, कहूँ कि अब अमृत निकलने लगा है, चुल्लू बाँधकर चलिए। लेकिन अभी उतने अमृत से मुझे ही अघाव न हुआ था। बैठा हुआ एकांत भक्त की दृष्टि से देखता रहा।

रक्त अधरों के कगारों से अमृत का निर्झर बहा। वह बोलीं—"सुकुल आपकी कविता नहीं समझते, मैं समझाती हूँ।"

सुकुल न रह सके। कहा—'ऐसा समझना वास्तव में कहीं नहीं देखा; असर भी क्या; चाहे कुछ न समझिए, पर सुनने से जी नहीं ऊबता। एम्० ए० क्लास तक किसी प्रोफ़ेसर के लेक्चर में यह असर न था।

"हाँ-हाँ, जनाब", देवीजी मेरु-मूल सीधा करके बोलीं—"यह एम्० ए० क्लास से आगे की पढ़ाई है; जब पास करके आए थे, हाथ-भर की चोटी थी; समझ में एक वैसी ही मेख।"

सुकुल की चोटी मेरी निगाह में सुकुल से अधिक परिचित थी, पर उनके आने पर मैंने उन्हें ही देखा था। चोटी सही-सलामत है या नहीं,

मालूम करने के लिये निगाह उठाई कि देवीजी बोलीं—"अब तो चाँद है। सुकुल को सुकुल बनाते, सच कहती हूँ, मुझे बड़ी मिहनत उठानी पड़ी है।"

उन्हें धन्यवाद दूँ, हिम्मत बाँध रहा था कि बोलीं—"मैं स्वयं सुकुल की सहधर्मिणी नहीं।"

मेरा रंग उड़ गया।

मुझे देखकर, मेरे ज्ञान पर हँसकर जैसे बोलीं— "सुकुल स्वयं मेरे सहधर्मी हैं।"

मैं साहित्यिका को ताज्जुब की निगाह से देखने लगा।

इतने में उनकी कृपा-दृष्टि मुझ पर पड़ी, बोलीं—"मैं आपको भी सहधर्मी बनाना चाहती हूँ!"

मैं चौंका। सोचा—"क्या यह द्रौपदीवाला धर्म है?"

देवीजी ने कलाई-घड़ी देखी, और फिर उठकर खड़ी हो गईं। भौंहें चढ़ाकर बोलीं—"बहुत देर हो गई, चलिए, आपको लेने आई थी, टैक्सी खड़ी है।" फिर बढ़कर, मेरे कंधे पर हाथ रखकर बड़े ही मधुर स्वर से पूछा—"आप मुर्ग़ा तो खाते हैं?"

मैंने सुकुल को देखा। सुकुल सिर्फ़ मुस्किराए। समझकर मैंने कहा—"मेरा तो बहुत पहले से सिद्धांत है।"

वह चलीं। मैं भी उसी तरह चद्दर ओढ़े सुकुल के पीछे चला।

सुकुल का घर आ गया। एक छोटा-सा दुमंज़िला मकान। इधर-उधर बंगालियों की बस्ती। जगह-जगह कूड़े के ढेर, ऊपर मछलियों के सेल्हर, बदबू फेंकते हुए!

हम लोग उतरे। भीतर पैठते ही दाहने हाथ एक छोटा-सा बैठका। एक डेढ़ साल के बच्चे को दासी खिलाती हुई। श्रीमतीजी को देखकर बच्चा 'मा-मा' करता हुआ उतावला हो गया; दोनो हाथ फैलाकर, मा के पास आने के लिये कूदकर दासी की गोद में लटक रहा। लेकर देवीजी प्यार करने लगीं। सुकुल ने दासी को मकान खोलने के लिये कुंजी दी।

एक सहृदय बात कहना चाहिए, सोचकर मैंने कहा—"भूखा है, शायद दूध पीना चाहता है।"

देवीजी ने षोडशी के कटाक्ष से देखा। कहा—"दासी पिला देगी।"

मैंने पूछा—"क्या यह आपका बच्चा नहीं है ?"

हँसकर बोलीं—"मेरा ? है क्यों नहीं ! पर दूध मेरे नहीं होता।"

मैंने निश्चय किया, शिक्षित महिला हैं, यौवन है, अभी मातृभाव नहीं आया, इसलिये दूध नहीं होता। मन में विधाता को धन्यवाद देता रहा।

"चलिए", वह बोलीं—"ऊपर चलें, एकांत में बातें होंगी, सुकुल बाजार जायँगे मुर्गा लेने।"

बच्चे को फिर दासी के हवाले कर दिया। मैं उनके पीछे चला, यह सोचता हुआ कि एकांत में सहधर्मी बनाने का प्रस्ताव न हो ! चित्त को क़ाबू न कर सका, वह पुलकित होता रहा।

यह कुछ सजा हुआ शयन-कक्ष था। "बैठिए", कहकर वह स्टोव जलाने लगीं। मैं आईने में उनकी पंप करती हुई तस्वीर देखता रहा।

चाय, पान और सिगरेट मेज़ पर लगाकर बैठीं। प्लेट पकड़कर मेरा प्याला बढ़ाती हुई मधुर कंठ से बोलीं—"शौक़ कीजिए।"

विनम्र भाव से मैंने दूसरी ओरवाली बाट पकड़ी, और आँखों में ही उन्हें धन्यवाद दिया।

निगाह नीची कर मुस्किराते हुए उन्होंने अपना प्याला होंठों से लगाया। आधी चाय चुक जाने पर पूछा—"आप मेरे सहधर्मी हैं तो ?"

पेट में, उतनी ही चाय से, समंदर लहराने लगा, ऊपर तूफ़ान। श्याम-तट पर भावों के कितने सजे, सुदृढ़ मकान उड़ गए, ऐसी खुशी हुई। कहा—"आप लेकिन सुकुल की······"

"बीवी हैं ?......हाँ, हूँ।"

"फिर मैं···"

"···कैसे बीवी बना सकता हूँ ?"

ऐसा धर्म-संकट जीवन में कभी नहीं पड़ा। मेरा सारा समंदर सूख गया, तूफ़ान न-जाने कहाँ उड़ गया, सिर्फ़ रेगिस्तान रह गया, जो इस ताप से और तपने लगा।

मुझे चुपचाप बैठा, अनमेल दृष्टि से देखता हुआ देखकर वह बोलीं—

"आप बुरा न मानें, मैंने देखा है, मर्दों में एक पैदायशी नासमझी है; वह खास तौर से खुलती है, जब औरतों से वे बातचीत करते हैं।"

मान लेने में ही बचत मालूम दी। मैंने कहा—"जी हाँ, औरतों के सामने उनकी समझ काम नहीं करती।"

"हाँ", वह बोलीं—"सुकुल को आदमी बनाती-बनाती मैं हार गई। 'बीबी' को ही लीजिए। बीबी तो मैं सुकुल की भी हो सकती हूँ, हूँ ही, आपकी भी हो सकती हूँ।"

मैं सूख तो गया, पर प्रसन्नता फिर आई। मैंने बिना कुछ सोचे एक उद्रेक में कह दिया—"हाँ।"

आप नहीं समझे, वह बोलीं—"आप साहित्यिक हैं, तो क्या ! फिर भी सुकुल के दोस्त हैं। बीबी की बहुत व्यापकता है।"

"जरूर।" मैंने कहा।

उन्होंने कान न दिया। कहती गई—"छोटी बहन, भतीजी, लड़की, भयहू (छोटे भाई की स्त्री) सबके लिये बीबी शब्द आता है। आपकी 'हाँ' किस अर्थ के लिये है ?"

मैंने डूबकर, कुछ कुल्ले पानी पीकर जैसे थाह पाई। प्रसन्न होने की चेष्टा करते हुए कहा—"बहन के अर्थ में।"

उन्होंने कहा—"देखिए, मर्द की बात एक होती है।"

इज्जत बचाने के लिये और जोर देकर मैंने कहा—"हाँ, मुकर जाऊँ, तो मर्द नहीं।"

लजाकर उन्होंने एक बार अपनी आँख बचाई। सँभलकर बोलीं—"हम बड़ी विपत्ति में हैं। साल-भर से छिपे फिरते हैं। मैं बचने के लिये सुकुल से उनके मित्रों का परिचय पूछती रही। सिर्फ़ आपका परिचय मुझे त्राण देनेवाला मालूम दिया। पता न मालूम था, साल-भर से लगा रहे हैं,।"

मैंने चितवन देखी। आँखें सजल हो आईं। कहा—"मैं तैयार हूँ।"

वह उठकर खड़ी हुईं। सामने आ, हाथ पकड़कर कहा—"भाईजी, मेरी रक्षा कीजिए। सुकुल का घर छूटा हुआ है, जिस तरह हो, मुझे अपने कुल में मिलाकर सुकुल से ब्याह साबित कीजिए।"

उनकी बड़ी-बड़ी आँखें; दो बूंद आँसू कपोलों से बहकर मेरी जाँघ पर टपके। मैं खड़ा हो गया, और अपनी चादर से उनके आँसू पोंछते हुए कहा—"तुम मेरे चाचा की लड़की, मेरी छोटी बहन हुई। मेरे चाचा सस्त्रीक बंगाल में आकर गुज़रे हैं। उनके एक कन्या भी थी। देश में आई थी।" फिर देवीजी की तरफ़ मुड़कर पूछा—"लेकिन तुम्हारा नाम भी नहीं मालूम कर पाया।"

"जहाँ से आई हूँ," उन्होंने कहा—"वहाँ की पुखराज हूँ, यहाँ की पुष्करकुमारी।"

मैंने वहीं स्नान किया। सुकुल की धोती पहनी। भोजन किया—बिलकुल मुसलमानी खाना। वैसी ही चपातियाँ, वैसा ही कोरमा! वही चटनी, वही मुरब्बा, वही मिठाई।

रामकहानी सुनकर पान खाते-खाते मैंने कुँवर को धन्यवाद दिया। कलकत्ता में ही उनका ब्याह कर दूंगा, आश्वासन देकर उनसे बिदा ली।

सेठजी (महादेव बाबू) बैठे थे। एकांत में ले जाकर यह हाल उनसे कहा। वह सहमत हो गए। कहा—"मगर मुंशीजी* से न कहिएगा। उनके पेट में बात नहीं रहती।"

शुभ मुहूर्त में विवाह की तैयारियाँ होने लगीं। एक दिन आमंत्रित हिंदी-भाषी विभिन्न-प्रांतों के साहित्यिकों की उपस्थिति में सुकुल के साथ श्रीपुष्करकुमारी का ब्याह कर दिया।

प्रीतिभोज में अनेक कनवजिए सम्मिलित थे।

●

---

* मुंशी नवजादिकलाल।

चरखा विवाद

जवाब घूँसा था ठेठ भाषा में यह चपत का। मैं यह बिरोध हरगिज न करता, अगर यू० पी० में रहकर अपने दूसरे शिक्षित भाइयों की तरह मैं भी प्रांतीयता-बू-विवर्जित हो गया होता; परंतु नहीं, भाग्य में तो बंगाल का रहना बदा था, यू० पी० का सौभाग्य कहाँ प्राप्त होता ?

बंगाल में रहने के कारण एक उन्नति मेरी जरूर हुई। बंगालियों के संसर्ग से प्रांतीयता का ज़हर मेरी नसों में खूब फैल गया, और नशे में बेहोश कर देने की जगह बेतरह मुझे सजग कर देने लगा—हर वक़्त—बंगालियों की एक-एक चाल से। बंगालियों से फ़ायदा मुझे यही हुआ। उनकी हरएक पेचीदा बात आसानी से सुलझा लेने लगा।

फ़ाम मी नो डेंजर
बी टू आर दैट
लिव्स टु दोज दैट
ड्वेल ऑन हाई।

●

रंग मंच पर

'पंचवटी-प्रसंग' के अवतरण को पेश करने के लिये मैंने अपने लिखे एक सामाजिक नाटक के एक पार्ट में मुक्तक छंद का समावेश किया, और वह पार्ट कलकत्ता स्टेज पर मैंने खुद खेला।

* * *

एक बार पंतजी के साथ मैंने निश्चय किया, एक ड्रामा अच्छा-सा लिखकर खेला जाय। पंतजी उषा का पार्ट खेलें, शायद मुझे अनिरुद्ध बनकर उतरना पड़े। एक ठाकुर साहब बाण की भूमिका पूरी करनेवाले तगड़े मिल गए। खेलनेवाले सभी साहित्यिक, चार-पाँच एम० ए० भी। ऐसा ही लिखवाकर मैंने प्रसादजी के नाम के साथ विज्ञापन कर दिया। इस उद्देश्य-पूर्ति में समय लगा। उषा नाटिका के लिये प्रथम गीत चाहता था। उसके लिये देर हुई। इस समय 'निरुपमा' उपन्यास तैयार कर रहा था, फिर उच्छृंखल की तैयारी। इसके बाद कुछ समय के लिये उपन्यास लिखना स्थगित।

अंतराल

गया दिन, आई रात ;
आया दिन, गई रात ।
ऐसे ही बीते कई पक्ष-मास !

गढ़ाकोला में

उन दिनों मैं गाँव में रहता था। एक रोज मैंने चरस मँगवाकर अपने दरवाजे बैठक लगवाई। मैं मचिया पर बैठकर भजन सुनने लगा। गाने में बड़ा आनंद आया। ताल पर तालियाँ देकर मैंने भी सहयोग किया। वे लोग ऊँचे दर्जे के उन गीतों का मतलब समझते थे, उनकी नीचता पर यह आश्चर्य मेरे साथ रहा। बहुत से गाने आलंकारिक थे। वे उनका भी मतलब समझते थे। रात तक मैं बैठा रहा। मुझे मालूम न था कि भगत कराने के अर्थ रात-भर गवाने के हैं।

तब तक आधी चरस भी खत्म न हुई थी। नींद ने जोर मारा। मैंने चतुरी (चमारों के चौधरी) से चलने की आज्ञा माँगी।

चरस की ओर देखते हुए उसने कहा—"काका, फिर कैसे काम बनेगा ?"

मैंने कहा—"चतुरी, तुम्हारी काकी तो भगवान् के यहाँ चली गई, जानते ही हो—भोजन अपने हाथ पकाना पड़ता है, कोई दूसरा मदद के लिये है नहीं। ज़रा आराम न करेंगे, तो कल उठ न पाएँगे।"

चतुरी नाराज होकर बोला—"तुम ब्याह करते ही नहीं, नहीं तो तेरह काकी आ जायँ। हाँ, वैसी तो....."

"मैंने कहा—"चतुरी, भगवान् की इच्छा !"

दुखी हृदय से सहानुभूति दिखलाते हुए चतुरी ने कहा—"काका, बहुत पढ़ी-लिखी थीं। मैंने हुसार को कई चिट्ठियाँ उनसे लिखवाई हैं।" फिर चलती हुई चिलम में दम लगाकर, धुआँ पीकर, सिर नीचे की ओर जोर से दबाकर, नाक से धुआँ निकालकर बैठे गले से बोला—"काकी रोटी भी करती थीं, बर्तन भी मलती थीं, और रोज रामायण भी पढ़ती थीं। बड़ा अच्छा गाती थीं काका, तुम वैसा नहीं गाते। बुढ़ऊ बाबा (मेरे चाचा) दरवाजे बैठते थे, भीतर काकी रामायण पढ़ती थीं। गजलें और न-जाने क्या-क्या—टिल्लाना गाती थीं—क्यों काका ?"

मैंने कहा—"हूँ, तुम लोग......तुम लोग चतुरी गाओ, मैं दरवाजा बंद करके सुनता हूँ।"

*　　　　*　　　　*

जगने तक भगत होती रही। फिर कब बंद हुई, मालूम नहीं। जब आँख खुली, तब काफ़ी दिन चढ़ आया था। मुँह धोकर दरवाजा खोला, चतुरी बैठा एकटक दरवाजे की ओर देख रहा था। कबीर-पदावली का अर्थ उससे किसी ने नहीं सुना, मैंने सुबह सुनने के लिये कहा था। जिनमें शक्ति होती है, अवैतनिक शिक्षक वही हो सकते हैं। चतुरी कबीर साहब की उल्टवाँसी सीधी करते हुए बोला—"मैं कबीर-पंथी हूँ न काका, जहाँ गिरह लगती है, साहब आप खोल देते हैं।"

फिर आँख मूँदकर शायद साहब का ध्यान करने लगा। सस्वर एक पद गुनगुनाकर गाने लगा, फिर एक-एक कड़ी गाकर अर्थ समझाने लगा। उसके अर्थ में अनर्थ पैदा करना आनंद खोना था। वह भाष्य पूरा कर चुका। इस तरह के भाष्य से हिंदीवालों पर 'कल्याण' के निरामिष लेखों से अधिक प्रभाव पड़ सकता है। सो कुछ देर बाद खुश होकर चतुरी बोला—"काका, कहो, तो अर्जुनवा (चतुरी का एक सत्रह साल का लड़का) को पढ़ने के लिये भेज दिया करूँ तुम्हारे पास ? पढ़ जायगा। तुम्हारी विद्या ले लेगा, मैं भी अपनी दे दूँगा, तो कहो, भगवान् की इच्छा हो जाय, तो कुछ हो जाय।"

मैंने कहा—"भेज दिया करो। दिया घर से लेकर आया करे। हमारे पास एक ही लालटेन है। बहुत नज़दीक घिसेगा, तो गाँववाले चौंकेंगे। आगे देखा जायगा। लेकिन, गुरु-दक्षिणा हम रोज लेंगे। घबराओ मत, सिर्फ़ बाजार से हमारे लिये गोश्त ले आना होगा, और महीने में दो दिन चक्की से आटा पिसवा लाना होगा। इसकी मिहनत हम देंगे। बाजार तुम जाते ही हो।"

चतुरी को इस सहयोग से बड़ी खुशी हुई।

समय बहुत हो गया था। मुझे काम था। चतुरी को मैंने बिदा किया। वह गंभीर होकर सिर हिलाता हुआ चला गया।

अर्जुन का आना जारी हो गया। उन दिनों बाहर मुझे कोई काम न था, देहात में रहना पड़ा। गोश्त आने लगा। समय-समय पर लोध, पासी, धोबी और चमार का ब्रह्म-भोज भी चलता रहा। घृत-पक्व, मसालेदार मांस की खुशबू से जिसकी भी लार टपकी, आप निमंत्रित होने को पूछा। इस तरह मेरा मकान साधारण जनों का अड्डा, बल्कि हाउस ऑफ़ कामन्स हो गया।

अर्जुन की पढ़ाई उत्तरोत्तर बढ़ चली। पहलेपहल जब दादा, मामा, काका, दीदी, नानी उसने सीखा, तो हर्ष में उसके मा-बाप सम्राट्-पद पाए हुए को छापकर छलके। सब लोग आपस में कहने लगे, अब अर्जुनवा 'दादा-दीदी' पढ़ गया। अर्जुन अपने बाप चतुरी को दादा और मा को दीदी कहता था। दूसरे दिन उसके बड़े भाई ने मुझसे शिकायत की, कहा—"बाबा, अर्जुनवा और तो सब कुछ लिख-पढ़ लेता है, पर भैया नहीं लिखता।"

मैंने समझाया—"किताब में 'दादा-दीदी' से भैया की इज्जत बहुत ज्यादा है; भैया तक पहुँचने में उसे दो महीने की देर होगी।"

धीरे-धीरे आम पकने के दिन आए। अर्जुन अब दूसरी किताब समाप्त कर अपने खानदान में प्रतिष्ठित हो चला। कुछ नाजुक-मिजाज भी हो गया। मोटा काम न होता था। आम खिलाने के विचार से मैं अपने चिरंजीव को लिवा लाया। दो-चार दिन के बाद मैंने देखा, वह ऊबा नहीं, अर्जुन से उसकी गहरी दोस्ती हो गई है। मैं अर्जुन के बाप का जैसा, वह भी अर्जुन का काका लगता था।

यद्यपि अर्जुन उम्र में उससे पौने दो पट था, फिर भी पद और पढ़ाई में मेरे चिरंजीव बड़े थे, फिर यह ब्राह्मण के लड़के भी थे। अर्जुन को नई और इतनी बड़ी उम्र में उतने छोटे-से काका को श्रद्धा देते हुए प्रकृति के विरुद्ध दबना पड़ता था। इसका असर अर्जुन के स्वास्थ्य पर तीन-ही-चार दिन में प्रत्यक्ष हो चला। तब मुझे कुछ मालूम न था, अर्जुन शिकायत करता न था।

मैं देखता, जब मैं डाकखाने या बाहर से गाँव लौटता हूँ, मेरे चिरंजीव अर्जुन के यहाँ होने या घर ही पर उसे घेरकर पढ़ाते रहते हैं।

चमारों के टोले में गोस्वामीजी के इस कथन को—'मनहु मत्त गजगन निरखि सिंह-किसोरहिं चोप'—वह कई बार सार्थक करते देख पड़े ।

मैं ब्राह्मण-संस्कारों की सब बातों को समझ गया, पर उसे उपदेश क्या देता ! चमार दबेंगे, ब्राह्मण दबाएँगे । दवा है, दोनो की जड़ें मार दी जायँ, पर यह सहज-साध्य नहीं । सोचकर चुप हो गया ।

मैं अर्जुन को पढ़ाता था, तो स्नेह देकर, उसे अपनी ही तरह का एक आदमी समझकर, उसके उच्चारण की त्रुटियों को पार करता हुआ । उसकी कमजोरियों की दरारें भविष्य में भर जायँगी, ऐसा विचार रखता था, इसलिये कहाँ-कहाँ उसमें प्रमाद है, यह मुझे याद भी न था । मेरे चिरंजीव ने चार ही दिन में अर्जुन की सारी कमज़ोरियों का पता लगा लिया, और समय-असमय उसे घर बुलाकर (मेरी ग़ैर-हाज़िरी में) उन्हीं कमज़ोरियों के रास्ते उसकी जीभ को दौड़ाते हुए अपना मनोरंजन करने लगे । मुझे बाद को मालूम हुआ ।

सोमवार को मियाँगंज के बाजार का दिन था । गोश्त के पैसे मैंने चतुरी को दे दिए थे । डाकखाना तब मगरायर था । वहाँ से बाजार नजदीक है । मैं डाकखाने से प्रबंध भेजने के लिये टिकट लेकर टहलता हुआ बाज़ार गया । बक़र-क़साई के सलाम का उत्तर देकर बादाम और ठंडाई लेने के लिये बनियों की तरफ़ गया । बाज़ार में मुझे पहचाननेवाले न पहचाननेवालों को मेरी विशेषता से परिचित करा रहे थे । चारो ओर से आँखें उठी हुई थीं । ताज्जुब यह था कि अगर ऐसा आदमी है, तो मांस खाने-जैसा घृणित पाप क्यों करता है ? मुझे क्षण-मात्र में यह सब समझ लेने का काफ़ी अभ्यास हो गया था ।

गुरुमुख ब्राह्मण आदि मेरे घड़े का पानी छोड़ चुके थे । गाँव तथा पड़ोस के लड़के अपने-अपने भक्तिमान् पिता-पितामहों को समझा चुके थे कि बाबा (मैं) कहते हैं, मैं पानी-पाँड़े थोड़े ही हूँ, जो ऐरे-ग़ैरे, नत्थू-खैरे सबको पानी पिलाता फिरूँ । इससे लोग और नाराज़ हो गए थे ।

साहित्य की तरह समाज में भी दूर-दूर तक मेरी तारीफ़ फैल चुकी थी—विशेष रूप से जब एक दिन विलायत की रोटी-पार्टी की तारीफ़ करनेवाले एक देहाती स्वामीजी को मैंने क़बाब खाकर काबुल में प्रचार

करनेवाले, रामचंद्रजी के वक़्त के, एक ऋषि की कथा सुनाई। और, मुझसे सुनकर वह गाँव के ब्राह्मणों के सामने मेरे लिये बीड़ी पीने का प्रचार करके भी मुझे नीचा नहीं दिखा सके—उन दिनों भाग्य-वश मिले हुए अपने आवारागर्द नौकर से बीड़ी लेकर, सबके सामने दियासलाई लगाकर मैंने समझा दिया कि तुम्हारा इस जूठे धुएँ से बढ़कर मेरे पास दूसरा महत्व नहीं।

मैं इन आश्चर्य की आँखों के भीतर बादाम और ठंडाई लेकर ज़रा रीढ़ सीधी करने को हुआ कि एक बुड्ढे पंडितजी एक देहाती भाई के साथ मेरी ओर बढ़ते नज़र आए। मैंने सोचा, शायद कुछ उपदेश होगा। पंडितजी सारी शिकायत पीकर, मधुमुख हो अपने प्रदर्शक से बोले—"आप ही हैं ?"

उसने कहा—"हाँ, यही हैं।"

पंडितजी देखकर गद्‌गद हो गए। ठोंढ़ी उठाकर बोले—"ओ हो हो, आप धन्य हैं!"

मैंने मन में कहा—"नहीं, मैं वन्य हूँ। मजाक़ करता है खूसट!" पर ग़ौर से उनका पग्ग और छोर देखकर कहा—"प्रणाम करता हूँ, पंडितजी!"

पंडितजी मारे प्रेम के संज्ञा खो बैठे। मेरा प्रणाम मामूली प्रणाम नहीं—बड़े भाग्य से मिलता है। आशीर्वाद भी मैं नहीं देता। नमस्कार करता हूँ या खीस निपोरता हूँ। मैं खड़ा पंडितजी को देखता रहा। पंडितजी ने अपने देहाती साथी से पूछा—"आप बे-मे सब पास हैं ?"

उनका साथी अत्यंत गंभीर होकर बोला—"हाँ! ज़िला में दूसरा नहीं है।"

होंठ काटकर मैंने कहा—"पंडितजी, रास्ते में दो नाले और एक नदी पड़ती है। भेड़िए लागन हैं। डंडा नहीं लाया। आज्ञा हो, तो चलूँ—शाम हो रही है।"

पंडितजी स्नेह से देखने लगे। जो शिकायत उन्होंने सुनी थी, आँखों में उस पर संदेह था; दृष्टि कह रही थी—'यह वैसा नहीं—ज़रूर गोश्त न खाता होगा, बीड़ी न पी होगी, लोग पाजी हैं।' प्रणाम करके, आशीर्वाद लेकर मैंने घर का रास्ता पकड़ा।

* * *

कुछ महीने और मुझे गाँव रहना पड़ा। अर्जुन कुछ पढ़ गया। शहरों की हवा मैंने बहुत दिनों से न खाई थी—कलकत्ता, बनारस, प्रयाग आदि का सफ़र करते हुए लखनऊ में डेरा डाला, स्वीकृत किताबें छपवाने के विचार से। कुछ काम लखनऊ में और मिल गया। अमीनाबाद होटल में एक कमरा लेकर निश्चित चित्त से साहित्य-साधना करने लगा।

इन्हीं दिनों देश में आंदोलन ज़ोरों का चला। पहला असहयोग-आंदोलन ज़ोरों पर था। खलिहानों में बैठे हुए किसान ज़मींदारों से बचने के लिये रह-रहकर 'महात्मा गांधी की जय' चिल्ला उठते थे। कुछ अति आधुनिक सरकारी नौकर, ज़मींदार और पुलिस के आदमी मज़ाक़ करते थे, तरह-तरह के अपशब्द। कुछ अकर्मण्य, मालदार राजनीतिक विद्वान् अखबारों को उल्था कर-कर टीका-टिप्पणी के साथ समाज में चर्चा करते हुए पावन-शक्ति बढ़ा रहे थे।

होटल में रहकर देहात से आनेवाले शहरी युवक मित्रों से सुना करता था—गढ़ाकोला में भी आंदोलन ज़ोरों पर है, छ-सात सौ तक का जोत किसान लोग इस्तीफ़ा देकर छोड़ चुके हैं। वह ज़मीन अभी तक नहीं उठी। किसान रोज़ इकट्ठे होकर झंडा-गीत गाया करते हैं।

साल-भर बाद आंदोलन में प्रतिक्रिया हुई। ज़मींदारों ने दावा करना और रियाया को बिना किसी रियायत के दबाना शुरू किया, तब गाँव के नेता मेरे पास मदद के लिये आए। बोले—"गाँव में चलकर लिखो। तुम रहोगे, तो मार न पड़ेगी, लोगों को हिम्मत रहेगी, अब सख़्ती हो रही है!"

मैंने कहा—मैं कुछ पुलिस तो हूँ नहीं, जो तुम्हारी रक्षा करूँगा, फिर मार खाकर चुपचाप रहनेवाला धैर्य मुझमें बहुत थोड़ा है। कहीं ऐसा न हो कि शक्ति का दुरुपयोग हो।"

गाँव के नेता ने कहा—"तुम्हें कुछ करना तो है नहीं, बस, बैठे रहना है।" मैं गया।*

---

* इन दिनों सविनय अवज्ञा-आंदोलन समाप्त हो चुका था। अछूतोद्धार की समस्या थी। आंदोलन का केंद्र रायबरेली था। पहले नमक-क़ानून दलमऊ में तोड़ा जानेवाला था, पर कार्यकर्ता दलमऊ से रायबरेली चले गए थे, ताकि पुलिस को तकलीफ़ न हो। अदालत जानेवाले, वकीलों, पुलिस के नौकरों, सरकारी अफ़सरों, पंडों, पुरोहितों, ज़मींदारों और ताल्लुक़ेदारों से घृणा करने लगे थे।

मेरे गाँव की कांग्रेस ऐसी थी कि ज़िले के साथ उसका कोई ताल्लुक़ न था—किसी खाते में वहाँ के लोगों के नाम दर्ज न थे, पर काम में पुरवा-डिवीज़न में उससे आगे दूसरा गाँव न था ! जाने के बाद पता नहीं कितनी दरख़्वास्तें ज़मींदार साहब ने इधर-उधर लिखीं।

कच्चे रंगों से रँगा तिरंगा झंडा, महावीर स्वामी के सामने एक बड़े बाँस में गड़ा, बारिश से धुलकर धवल हो रहा था। इन दिनों मुक़द्दमे-बाज़ी और तहक़ीक़ात ज़ोरों से चल रही थी। कुछ किसानों पर, एक साल के हरी-भूसे को तीन साल की बाक़ी बनाकर, ज़मींदार साहब ने दावे दायर किए थे, जो अपनी क्षुद्रता के कारण ज़मींदार ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट के पास आकर किसानों की दृष्टि में और भयानक हो रहे थे।

एक दिन, दरख़्वास्तों के फल-स्वरूप शायद, दारोग़ाजी तहक़ीक़ात करने आए। मैं मगरायर डाक देखने जा रहा था। बाहर निकला, तो लोगों ने कहा—"दारोग़ाजी आए हैं, अभी रहो।" आगे दारोग़ाजी भी मिल गए। ज़मींदार साहब ने मेरी तरफ़ दिखाकर अँगरेज़ी में धीरे से कुछ कहा। तब मैं कुछ दूर था, सुना नहीं। गाँववाले समझे नहीं। दारोग़ाजी झंडे की तरफ़ जा रहे थे। ज़मींदार शायद उखड़वा देने के इरादे से लिए जा रहे थे।

महावीर के अहाते में झंडा देखकर दारोग़ाजी कुछ सोचने लगे। बोले—"यह तो मंदिर का झंडा है।" अच्छी तरह देखा, उसमें कोई रंग न देख पड़ा। ज़मींदार साहब को ग़ौर से देखते हुए लौटकर डेरे की तरफ़ चले। ज़मींदार साहब ने बहुत समझाया कि यह बारिश से धुलकर सफ़ेद हो गया है, लेकिन यह है कांग्रेस का झंडा।

दारोग़ाजी बुद्धिमान् थे। महावीरजी के अहाते में सफ़ेद झंडे को उखड़वाकर वीरता प्रदर्शित करने की आज्ञा न दी। गाँव में कांग्रेस है, इसका पता न सब-डिवीज़न में लगा, न ज़िले में; थानेदार साहब करें क्या !

उन दिनों मुझे उन्निद्र-रोग था, इसलिये सिर के बाल साफ़ थे। मैंने सोचा—'वेश का अभाव है, तो भाषा को प्रभावशाली करना चाहिए; नहीं तो थानेदार साहब पर अच्छी छाप न पड़ेगी। वहाँ तो महावीर स्वामी की कृपा रही, यहाँ अपनी ही सरस्वती का सहारा है।

मैं ठेठ देहाती हो रहा था। थानेदार साहब ने मुझसे पूछा—"आप कांग्रेस में हैं ?"

मैंने सोचा, इस समय राष्ट्र-भाषा से राजभाषा का बढ़कर महत्त्व होगा। कहा—"मैं तो विश्व-सभा का सदस्य हूँ।"

इस सभा का नाम भी थानेदार साहब ने न सुना था। पूछा—"यह कौन-सी सभा है ?"

उनके जिज्ञासा-भाव पर गंभीर होकर नोबुल-पुरस्कार पाए हुए कुछ लोगों के नाम गिनाकर मैंने कहा—"ये सब उसी सभा के सदस्य हैं।"

थानेदार साहब क्या समझे; वे जानें। मुझसे पूछा—"इस गाँव में कांग्रेस है ?"

मैंने सोचा, युधिष्ठिर की तरह सत्य की रक्षा करूँ, तो असत्य-भाषण का पाप न लगेगा। कहा—"इस गाँव के लोग तो कांग्रेस का मतलब भी नहीं जानते।"

इतना कहकर मैंने सोचा—"अब ज्यादा बातचीत ठीक न होगी।" उठकर खड़ा हो गया, और थानेदार साहब से कहा—"अच्छा, मैं चलता हूँ। ज़रा डाकखाने में काम है। मेरी ज़रूरी चिट्ठियाँ होती हैं, और रजिस्ट्री, अखबार, मासिक पत्र-पत्रिकाएँ आती हैं। फिर उस गाँव में हम लोगों की लाइब्रेरी भी है, जाना पड़ता है।"

थानेदार साहब ने पूछा—"कांग्रेस की चिट्ठियाँ आती हैं ?"

मैंने कहा—"नहीं, मेरी अपनी।" मैं चला आया। थानेदार साहब ज़मींदार साहब से शायद नाराज़ होकर गए।

इससे बचाव हुआ, पर मुक़द्दमा चलता रहा। ज़मींदार ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट ने, जिनके एक रिश्तेदार ज़मींदार की तरफ़ से वकील थे, किसानों पर ज़मींदार को डिगरी दे दी। दावे दायर हो गए, अब तक जो सम्मिलित धन मुक़द्दमों में लग रहा था, सब खर्च हो गया। पहले की डिगरी में कुछ लोगों के बैल वग़ैरा नीलाम कर लिए गए। लोग घबराए। मदद की आशा न रही। मैंने गाँव में कुछ पक्के गवाह ठीक कर दिए।

*　　　*　　　*

एक दिन ससुराल—दलमऊ—में अछूत पाठशाला देखने गया। देखा,

गड़हे के किनारे, ऊँची जगह पर, मकान के सामने एक चौकोर जगह है। कुछ पेड़ हैं। गड़हे के चारो ओर के पेड़ लहरा रहे हैं। एक कुटीनुमा बँगले के सामने टाट बिछा है, उस पर अछूत लड़के श्रद्धा की मूर्ति बने बैठे हैं। आँखों से निर्मल रश्मि निकल रही है। काफ़ी लड़के। मुझे देखकर सम्मान-प्रदर्शन करते हुए नत-शिर अपने-अपने पाठ में रत हैं। बिलकुल प्राचीन तपोवन का दृश्य।

इनके कुछ अभिभावक भी आए हैं। दोनो में फूल लिए हुए, मुझे भेंट करने के लिये। इनकी ओर कभी किसी ने नहीं देखा। ये पुश्त-दर-पुश्त से सम्मान देकर नत-मस्तक ही संसार से चले गए हैं। संसार की सभ्यता के इतिहास में इनका स्थान नहीं।

ये नहीं कह सकते, हमारे पूर्वज कश्यप, भरद्वाज, कपिल, कणाद थे; रामायण, महाभारत इनकी कृतियाँ हैं; अर्थ-शास्त्र, कामसूत्र इन्होंने लिखे हैं; अशोक, विक्रमादित्य, हर्षवर्द्धन, पृथ्वीराज इनके वंश के हैं। फिर भी ये थे, और हैं।

अधिक न सोच सका। मालूम दिया, जो कुछ पढ़ा है, कुछ नहीं; जो कुछ किया है, व्यर्थ है; जो कुछ सोचा है, स्वप्न। मैं बार-बार आँसू रोक रहा था।

इसी समय बिना स्तव, बिना मंत्र, बिना वाद्य, बिना गीत के, बिना बनाव, बिना सिंगारवाले वे चमार, पासी, धोबी और कोरी दोने में फूल लिए हुए मेरे सामने आ-आकर रखने लगे। मारे डर के हाथ पर नहीं दे रहे थे कि कहीं छू जाने पर मुझे नहाना होगा। इतने नत। इतना अधम बनाया है मेरे समाज ने उन्हें।

मैंने उन्हें समझाया, मैं उनका आदमी हूँ, उनकी भलाई चाहता हूँ। उन्हें उसी निगाह से देखता हूँ, जिससे दूसरे को। उन्हें इतना ही आनंद विह्वल किए हुए है। बिना वाणी की वह वाणी, बिना शिक्षा की वह संस्कृति प्राण का पर्दा-पर्दा पार कर गई। लज्जा से मैं वहीं गड़ गया।

वह दृष्टि इतनी साफ़ है कि सब कुछ देखती-समझती है। वहाँ चालाकी नहीं चलती। ओफ़्! कितना मोह है। मैं ईश्वर, सौंदर्य, वैभव और विलास का कवि हूँ!—फिर क्रांतिकारी!!

संयत होकर मैंने कहा—"आप लोग अपना-अपना दोना मेरे हाथ में दीजिए, और मुझे उसी तरह भेटिए, जैसे मेरे भाई भेटते हैं। बुलाने के साथ मुस्किराकर वे बढ़े। वे हर बात में मेरे समकक्ष हैं, जानते हैं। घृणा से दूर हैं। वह भेद मिटते ही आदमी-आदमी मन और आत्मा से मिले, शरीर की बाधा न रही।

मैं और कुछ नहीं कर सका। देखकर चला आया, कुछ लड़कों से कुछ पूछकर।

* * *

मैं गाँव में ही था। एम्० ए० का इम्तहान देकर वाजपेयीजी (नंद-दुलारे) गाँव आए। कभी वह मेरे गाँव आते थे, कभी मैं उनके गाँव जाता था। एक दिन निश्चय हुआ, यहाँ एक पुस्तकालय क़ायम किया जाय। चूँकि वाजपेयीजी का गाँव बड़ा है, इसलिये उसी गाँव के लिये निश्चय हुआ। यह इरादा पहले मैं पक्का कर चुका था।

वाजपेयीजी के चाचा पं० रामेश्वरजी वाजपेयी (श्रीआनंदमोहन वाजपेयी एम्० ए० के पिता) से परामर्श हुआ। सभा हुई। स्थानीय सभासदों की सहानुभूति और सम्मति मिली। मैं शुरू से अदूरदर्शी था, आदर्शप्रियता में पड़कर कुछ किताबें, पत्र-पत्रिकाएँ और रुपए दिए। एक सज्जन ने भवन बनने तक अपनी बैठक में पुस्तकालय के लिये जगह दी। काम जारी हो गया, लेकिन स्थानीय लोगों की वैसी सहानुभूति न मिली।

पुस्तकालय द्वारा आस-पास की जनता के लिये व्याख्यानों की योजना हुई, जिसमें अनेक उपयुक्त विषयों पर मेरे और वाजपेयीजी के व्याख्यान हुआ करते थे। उनसे आसपास की जनता में अच्छी जागृति हो गई थी।

* * *

एक दिन यह तय हुआ कि आचार्य द्विवेदीजी के यहाँ चला जाय। द्विवेदीजी का गाँव दौलतपुर, वाजपेयीजी के गाँव मगरायर से १७-१८ मील पड़ता है। बैलगाड़ी पर चढ़कर हम लोग आचार्य द्विवेदीजी के दर्शनों के लिये चले।

उनके हृदय में मेरे लिये स्नेह था। कुछ चक्कर काटते हम लोग आचार्य द्विवेदीजी के यहाँ दौलतपुर पहुँचे।

साहित्यिक बातचीत चली। मैं बैठा आनंद लेता रहा। द्विवेदीजी ने मेरे लिये भी कई प्रयत्न किए थे, पर उनकी शिक्षा का निर्वाह मेरी शक्ति से बाहर की बात थी।

पहर रात रहते हम लोग गाड़ी पर बैठकर गाँव चल दिए।

* * *

मेरी थोड़ी-सी जमींदारी-हक़वाली जमीन और बाग़ात हैं। इनका रेकार्ड दुरुस्त करवाना था। इनका मैं ही मालिक था। हम लोग बीघापुर स्टेशन उतरने के लिये पहले कानपुर जाते थे, फिर वहाँ से बीघापुर। प्रयाग से भी रास्ता है, पर तब ऊँचाहार और दलमऊ, दो जगह गाड़ी बदलनी पड़ती थी। देर हो जाती थी, हैरानी ऊपर से होती थी। अस्तु।

कानपुर से गाँव आकर गाँव से कानपुर जाता था। विद्यार्थीजी के समय तक मैं बराबर नवीनजी से कानपुर जाने पर मिलता रहा। गाँव आने पर मैं दो-एक बार द्विवेदीजी के दर्शन करने जाया करता था। इधर द्विवेदीजी जुहू (कानपुर) में रहते थे। उनके दर्शन करने थे। मैं चालीस रुपए मुंशीजी से खर्च लेकर चला।

* * *

एक दिन शौक़ चर्राया। फ़ुटबाल हो रहा था। छुटी आदतें; पर मैं भी 'बैक' के लिये तैयार हो गया। फिसला एक शाट, दाहना फ़ुट पीड़ा-युक्त हो गया। चारपाई से न उठ सकनेवाली अवस्था, छत्तीस घंटे लट्ठ की सहायता से चलनेवाली। सात दिन बाद चला, पर कसक थी।

'हार गया जीवन-रण,
छोड़ गए साथी जन।
एकाकी नैश क्षण,
कंटक-पथ, विगत पाथ !'
ये दुख के दिन काटे हैं
जिसने गिन - गिनकर—
पल - दिन, तिन - तिन !'

छतरपुर में तीन सप्ताह

सेक्रेटरी छतरपुर के पास ब्रज-भाषा में चंडीदास के एक पद्य का अनुवाद करके भेजा। बुलाने पर गया, पर कम पारिश्रमिक और बँगला के आधिपत्य के कारण कुछ दिनों बाद छोड़कर चला आया। करने को कोई काम न था। गुलाबरायजी के कहने से यह काम लिया, पर मेरी तबियत बहुत शांत नहीं हुई। खैर, हम साहित्य के बादशाह हैं, अंधे क्या जानें ?

जैसे मैं बाजार में बिका
कौड़ी - मोल, पूर्ण शून्य दिखा।

मेरे 'अमित्र महाशय'

मैंने 'मतवाला' में मुक्त छंद और मुक्त गीत लिखना शुरू किया था। हालाँकि मैं और कई साल पहले से लिख रहा था, लेकिन उस समय तक हिंदी के पत्रों में ऐसे छंदों को स्थान न मिलता था। महादेव बाबू ने मेरे छंदों के प्रचार के लिये 'मतवाला' निकाला था।

मेरे छंदों के अलावा अपनी अन्य पाठ्य-सामग्री के कारण तब तक, छ-ही-सात महीनों में, मतवाला काफ़ी लोकप्रिय हो चुका था। मेरी कविताएँ ताज्जुब की निगाह से, नासमझी से, देखी और पढ़ी जाती थीं।

मेरे 'अमित्र'जी जो पहलेपहल लोगों से मैत्री नहीं कर सके, इसका मुख्य कारण यही है, उनके हृदय में सहृदयता काफ़ी थी, वेश-वैचित्र्य के होने पर भी, इंगितैर्गत्या, वह अपने ही जान पड़ते थे। पूर्व-कथित कारण के अनुसार, उन्हें देखकर, हमारे कुछ पूज्यपाद आचार्यों ने और कुछ कवि महोदयों ने अपनी अमूल्य सम्मति की एक कौड़ी भी फ़िज़ूल खर्च में नहीं जाने दी।

गत वर्ष कलकत्ते में हिंदी के प्रसिद्ध कवि बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त से मुलाक़ात हुई, और इस अमित्र छंद के संबंध में उनके पूछने पर मेरी ओर से उन्हें जो उत्तर मिला, उनकी उस समय की प्रसन्नता से मुझे ऐसा जान पड़ा, जैसे दो मनुष्यों के हृदय की बातें एक हो गई हों—जैसे मेरे विचार और उनके विचार एक हो गए हों। गुप्तजी ने कहा—"मेरा भी यही विश्वास है कि मुक्त काव्य हिंदी में कवित्त छंद के आधार पर ही सफल हो सकता है।"

गुप्तजी द्वारा किया गया वीरांगना-काव्य का अनुवाद जिन दिनों 'सरस्वती' में निकल रहा था, उन दिनों इस अमित्र छंद की सृष्टि मैं कर चुका था—मैं कर क्यों चुका था, भाव के आवेश में 'जुही की कली' उन दिनों मेरी कापी में खिल चुकी थी।

गुप्तजी के छंद में नियम थे। मैंने देखा, उन नियमों के कारण उस अनुवाद में बहाव कम था। वह बहाव जैसे नियम के कारण आए हुए कुछ अक्षरों को, उनके बाँध को—तोड़कर, स्वच्छंद गति से चलने का प्रयास कर रहा हो। वे नियम मेरी आत्मा को असह्य हो रहे थे—कुछ अक्षरों के उच्चारण से जिह्वा नाराज हो रही थी।

जिस समय आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के संपादक थे, 'जुही की कली' 'सरस्वती' में छापने के लिये मैंने उनकी सेवा में भेजी थी। उन्होंने उसे वापस करते हुए पत्र में लिखा—"आपके भाव अच्छे हैं, पर छंद अच्छा नहीं। इस छंद को बदल सकें, तो बदल दीजिए।"

मेरे पास ज्यों-की-त्यों वह तीन-चार साल तक पड़ी रही। फिर संगीतात्मक विषम-मात्रिक गीत-काव्य में मैंने अपनी 'अधिवास' नाम की कविता 'सरस्वती' के वर्तमान संपादक श्रीपदुमलाल पुन्नालालजी बख्शी बी० ए० महोदय के पास भेजी। पंतजी ने अपने 'पल्लव' के 'प्रवेश' में इसकी भी आलोचना की है, और इसमें संगीत के रहने के कारण इसे हिंदी की अपनी वस्तु बतलाया है (कारण, गीत-काव्य उनके छंदों के प्रवाह से मिलता-जुलता है !)। अस्तु।

बख्शीजी ने उस कविता पर यह नोट लिखा—"इसके भाव समझ में नहीं आए, इसलिये सधन्यवाद वापस करता हूँ।" यह उस साल की बात है, जिस साल पहलेपहल बख्शीजी 'सरस्वती' के संपादक हुए थे।

हिंदी-संसार समझ सकता है कि संपादकों की इतनी बारीक समझ बेचारे नए लेखक और कवि पर क्या काम करती है। दो वर्ष बाद पूज्यपाद आचार्य द्विवेदीजी महाराज ने 'समन्वय'वालों से मेरा परिचय कराया। क्रमशः अनुकूल समय के आने पर मैं 'समन्वय' का संपादक (प्रत्यक्ष विचार से सहायक) होकर कलकत्ता गया। हिंदी के साहित्यिकों में मेरे प्रथम

मित्र हुए बाबू महादेवप्रसादजी सेठ ('मतवाला' के सुयोग्य संपादक) और बाबू शिवपूजनसहायजी (हिंदी के स्वनामधन्य लेखक) ।

श्रीमान् सेठजी को मेरी कविता में तत्व दिखलाई पड़ा, वह हृदय से उसके प्रशंसक हुए । बाबू शिवपूजनसहायजी ने अपने 'आदर्श' में मेरी 'जुही की कली' को जगह दी, और भावों की प्रशंसा से मुझे उत्साह भी दिया । इसके पश्चात् वही 'अधिवास', जिसे बख्शीजी ने न समझ सकने के कारण वापस कर दिया था, सेठजी के कहने पर बाबू शिवपूजनसहायजी ने 'माधुरी' के संपादकों के पास भेज दिया ।

'माधुरी' के उस समय के संपादक श्रीदुलारेलालजी भार्गव और श्रीरूप-नारायणजी पांडेय ने उसे 'माधुरी' के मुख-पृष्ठ पर निकाला । यह बात 'माधुरी' के प्रथम वर्ष की है । कलकत्ते में पांडेयजी की कविता-मर्मज्ञता प्रसिद्ध थी, इसीलिये वह कविता उनके पास भेजी गई थी । भार्गवजी भी मेरी कविता के प्रशंसक थे, यह मुझे मालूम हुआ, जब वह कलकत्ता गए ।

और भी मेरी कई कविताएँ 'माधुरी' में अग्र-पश्चात् निकलीं, परंतु मुझे हिंदी-संसार के सामने लाने का सबसे अधिक श्रेय है सहृदय साहित्यिक श्रीबालकृष्णजी शर्मा 'नवीन' के शब्दों में छिपे हुए हीरे श्रीमहादेव-प्रसादजी सेठ को और उनके पत्र 'मतवाला' को । मुझे मेरे 'मास्टर साहब' हिंदी के वृद्ध केसरी श्रीमान् राधामोहन गोकुलजी ने किसी से कम प्रोत्साहन नहीं दिया ।

चिरकाल से बंगाल में रहने के कारण हिंदी और बँगला की नाट्य-शालाओं में अभिनय देखने रहने के मुझे विशेष अवसर मिले । कलकत्ता इन दोनो भाषाओं के रंगमंचों से प्रसिद्ध है । हिंदी के रंगमंचों में अलफ्रेड और कोरिंथियन के नाटकों को देखकर मुझे बड़ा दुख होता था । उनके नटों के अस्वाभाविक उच्चारण से तबियत घबराने लगती थी ।

उस समय में १६-१७ से अधिक न था । कल्पना की सुदूर भूमि में हिंदी के अभिनय की सफलता पर विचार करते हुए, बोलते हुए, पाठ खेलते हुए जिस छंद की सृष्टि हुई, वह यही है, और पीछे से विचार करके भी देखा, तो इसे स्वभाव-वश निश्छल हृदय की सत्य ज्योति की तरह निकला हुआ पाया । वेदों और उपनिषदों में इसकी पुष्टि के प्रमाण

भी अनेक मिले, और सबसे प्रधान युक्ति, जिस किसी के सामने मैंने इसे पढ़ा, उसी के हृदय में 'कुछ है' के रूप से इसने घर कर लिया। पं० जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी, पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय, पं० सकल नाराणजी शर्मा, पं० चंद्रशेखरजी शास्त्री इसके उदाहरण हैं।

पूज्यपाद द्विवेदीजी महराज ने भी इसे मेरे मुख से सुना, और उस समय की उनकी प्रसन्नता ने मुझे सफलता का विश्वास दिलाया।

* * *

मेरा लिखा हुआ स्वच्छंद छंद पौराणिक नाटकों के लिये उपयोगी है। इसी विचार से मैंने लिखा भी था। अवश्य काव्य लिखने के विचार से पहले मैंने उसे 'मिल्टन' की तरह क्लिष्ट भाषा-पूर्ण कर दिया था, पर मेरा असली मतलब उसे पौराणिक नाटकों में लाना ही था।

ये सब बाहर की बातें हुईं। एक वह दिन था, जब हिंदी-संसार एक तरफ़ और मैं अपने अमित्र महाशय के साथ एक तरफ़ था।

एक रोज़ एक सम्मेलन में हिज़ हाईनेस बरोदा आए थे। मैं सामने की सबसे बढ़िया कुरसी पर बैठा था। एक सज्जन ने कहा—"महाराज बरोदा आ रहे हैं, यह कुरसी छोड़ दीजिए।" मैंने कुरसी छोड़ दी।

बाबू पुरुषोत्तमदासजी टंडन ने हिज़ हाईनेस, बरोदा की कुछ शब्दों में तारीफ़ की, सभापतिजी के कहने पर। महाराजा बरोदा की आँखों में ताज्जुब था। उन्होंने शायद मेरे पढ़ते वक़्त ही मेरे संबंध में कुछ पूछा था। शायद टंडनजी ने ही दो चार शब्दों में परिचय दिया था। पढ़ते वक़्त मैं तन्मय था। पढ़ने के बाद बाबू महादेवप्रसादजी से मालूम किया। पं० श्यामविहारीजी मिश्र भौचक्के हुए कह रहे थे—"यह क्या है, गद्य या पद्य?"

* * *

मैंने पढ़ने और गाने, दोनो के मुक्त रूप निर्मित किए। पहला वर्ण-वृत्त में है, दूसरा मात्रा-वृत्त में। इनसे हटकर मुक्त रूप में छंद जा नहीं सकता। गाना भी जो मैंने सिखाया है, वह हिंदी का पुराना राग नहीं

कि कविजी कवि-सम्मेलन में शाम के वक़्त भैरवी में कविता पढ़ने लगे। तबले के सामने बैठा दीजिए, तो भैरवी भी भूल जाए। मेरा गाना भी कविता का ही गाना है। गीत तो मैंने अलग लिखे हैं।

मुक्त छंद की रचना में मैंने भाव के साथ रूप-सौंदर्य पर ध्यान रक्खा है, बल्कि कहना चाहिए, ऐसा स्वभावतः हुआ, नहीं तो मुक्त छंद न लिखा जा सकता, वहाँ कृत्रिमता नहीं चल सकती।

''तब भी मैं इसी तरह समस्त
कवि - जीवन में व्यर्थ ही व्यस्त
लिखता अबाध गति मुक्त छंद,
पर संपादकगण निरानंद
वापस कर देते पढ़ सत्वर—
दे एक पंक्ति दो में उत्तर।
लौटी रचना लेकर, उदास
ताकता हुआ मैं दिशाकाश,
बैठा प्रांतर में, दीर्घ प्रहर
व्यतीत करता था गुन - गुन कर।
संपादक के गुण यथाभ्यास—
पास की नोचता हुआ घास
अज्ञात फेंकता इधर - उधर,
भाव की चढ़ी पूजा उन पर।''

साहित्यिक सन्निपात !

मैंने 'भारत' में एक लेख लिखा था—'वर्तमान धर्म'। इसमें मैंने अपने रहस्यवाद-ज्ञान का परिचय दिया था।

'विशाल भारत' के संपादक पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने उसी 'वर्तमान धर्म' को 'साहित्यिक सन्निपात' शीर्षक देकर अपने पत्र में प्रकाशित किया, और लोगों की सम्मति माँगी। इससे पहले उन्होंने उस 'वर्तमान धर्म' का अर्थ कर देनेवाले साहित्यिक को पच्चीस रुपए का पुरस्कार अपने पत्र में घोषित किया था। पर मुझ पर आक्षेप होने पर मुझे उनकी पुरस्कार-घोषणा का हाल साथ-साथ मालूम हुआ।

'वर्तमान धर्म' 'भारत' में छप जाने के बाद मैं खुद चलकर चार-पाँच बार कलकत्ते में चतुर्वेदीजी से मिला, पर उन्होंने 'वर्तमान धर्म' का अर्थ कर देने के लिये मुझसे नहीं कहा। मेरे विरुद्ध आक्षेप करने से पहले मुझे चिट्ठी नहीं लिखी, मुझे सूचित नहीं किया, मुझे अर्थ कर देने के लिये नहीं पूछा। पौष, १९८९ के 'विशाल भारत' में चतुर्वेदीजी फ़र्माते हैं—"जब 'निराला'जी उत्तर नहीं देते..."

मैंने उन्हें एक चिट्ठी लिखी थी, और रायों के साथ छाप देने के लिये कहा था, पर उन्होंने मेरा पत्र प्रकाशित नहीं किया।

मार्गशीर्ष, १९८९ की 'सुधा' में मैंने साहित्यिकों तथा साहित्य-प्रेमियों से निवेदन किया था कि 'वर्तमान धर्म' की टीका मैं 'विशाल भारत' में भेज रहा हूँ। पीछे विचारकर देखा, तो समझ में आया, जिस 'विशाल भारत' ने मेरा एक छोटा-सा पत्र लिखने पर भी नहीं छापा, वह अपने प्रोपेगेंडा का उचित उत्तर क्यों छापेगा।

'वर्तमान धर्म' की टीका करनेवाले साहित्यिकों को २५ रु० पुरस्कार चतुर्वेदीजी ने घोषित कर दिया, पर मुझे तीन पैसे का एक कार्ड अर्थ सम-

छपने के लिये वह नहीं लिख सके। इससे प्रकट है, वह वर्तमान धर्म का अर्थ चाहते हैं या मेरे विरुद्ध प्रोपगेंडा करना। चार-पाँच महीने तक मेरे लिखने पर वह मेरे पास 'विशाल भारत' भेजते रहे, पर जब से मैं 'रंगीला' का संपादन छोड़कर कलकत्ते से घर आया, 'विशाल भारत' मुझे नहीं मिला।

दैनिक 'लोकमान्य' में 'साहित्यिक सन्निपात' शीर्षक से मुझ पर चतुर्वेदीजी ने पुनः आक्षेप किया, जिसके कुछ वाक्य—"यार लोगों ने हिंदी-साहित्य को विधवा खाला का घर समझ लिया है, जहाँ कोई धनी-धोरी है ही नहीं। जो जिसके मन में आता है, ऊटपटांग लिख मारता है। पब्लिक के समय और पैसे का मानो कोई मूल्य ही नहीं।"

मैंने उत्तर उन्हीं के पास छपने के लिये भेज दिया। अगहन का 'विशाल भारत' रायों के साथ निकला। राय देनेवाले एक-से-एक बढ़कर साहित्यिक, जिन्हें सम्मति देते हुए पहलेपहल देखा मैंने!

चतुर्वेदीजी ने राय माँगी, लेख के विषयों को बिलकुल उड़ा दिया।

'वर्तमान धर्म' की टीका हो चुकने पर चतुर्वेदीजी के प्रोपगेंडा पर लिखा—"समझाइए या अपने प्रपितामहों की अक्ल पर भी प्रोपगेंडा शुरू कीजिए। तब मैं समझूँ कि आप दमदार हैं, आदमी हैं।"

'लांछना-इंधन हृदय-तल जले अनल!'

चपत का जवाब घूँसा !

सोचा था, दलबंदी के दलदल में न पड़ूँगा, मार का जवाब प्यार से दूँगा, पर आफ़त का पहाड़ हरि की इच्छा से मुझी पर आ टूटा। जिस रोज़ मैंने साहित्य के खाते में नाम लिखाया, उसी रोज़ से हिंदी-साहित्य के आचार्यों ने पाठ पढ़ाना शुरू कर दिया कि जब तक जियो, अपने हाथों अपनी नाक काटकर दूसरों का सगुन बिगाड़ते रहो। साले, सब हिंदीवाले मेरे खिलाफ़ हो गए।

जब चारो ओर से साहित्य के स्वाधीनचेता महापुरुषों ने बग़ावत का झंडा खड़ा किया, डेढ़ इंच की कविता की खाई को पार कर जाने की सलाह साहित्य के वृद्ध संपाती ने समागत लंगूर-दल को दी। डेढ़ इंच के हिसाब से लाँग जंप करने से छायावाद की माया से यह तत्काल डेढ़ गज़ की हो गई। कुछ रोज़ ठहरकर सोचा, शिकार ही करना है, तो किसी शेर का करो, जंगल से गीदड़ क्यों उड़ाओगे ? शेर के नाम से एक शेर याद आ गया (भगवान् जाने, सेर है या सवा सेर)—

यारो शेरे बबर से न डरना कभी ;
पर विधवा से शादी न करना कभी।

मैंने कहा—मैं साहित्य की किसी विधवा का ही शिकार खेलूँगा। मैं खोज के महकमे में बहुत काल तक सी० आई० डी० का अफ़सर रह चुका हूँ। साहित्य के हर मासिक दफ़्तर की जाँच शुरू कर दी। बहुत काल के बाद चैत्र-मास की 'सुधा' में एक लेख मिला 'साहित्य-कला और विरह।' नाम देखा, तो पं० हेमचंद जोशी और इलाचंद जोशी। पहले तो नाक सिकुड़ गई। सोचा, पुरुष विधवा ही सही, मुझे बिवाह थोड़े ही करना है।

पं० पद्मसिंह शर्मा* की उक्ति है कि जरायम पेशा साहित्यिकों के प्रति सहनशील बनना अनुचित है।

जोशी-बंधुओं के अज्ञान का इतना बड़ा ज्ञानाडंबर मेरी प्रकृति को असह्य हो रहा था। तमाम वाक्यों में गदाधर का गद्य-काव्य भरा हुआ था।

गदाधर मेरे एक मित्र थे। साधारण हिंदी जानते थे। उन दिनों हिंदी के किसी प्रसिद्ध पत्र में गद्य-काव्य बहुत छपा करता था, और गद्य-काव्य के लेखक शीर्षक के नीचे ही लिखा करते थे—खास 'क' पत्र के लिये लिखित। गदाधर ने सोचा, जिस शीर्षक के नीचे इतना बड़ा साइन बोर्ड है, वह जरूर बड़े महत्त्व की चीज होती होगी। फिर मैं उन्हें जब कभी देखता, पत्र लेकर उतना अंश बड़े ध्यान से पढ़ते। एक रोज़ कुछ लिख रहे थे। उसी समय मैं भी उनके यहाँ जा पहुँचा। बस, उसी रोज हिंदी की सेवा के लिये उन्होंने लेखनी उठाई थी। मुझे देखकर बेचारे बहुत झेंपे।

मैंने पूछा—"क्या हो रहा है?" इतना कहकर मैं बढ़ा उनके कागज़ की ओर, और उनके छिपाने के पहले ही छीन लिया।

लिखा था—

'गद्य-काव्य'

(खास 'क' पत्र के लिये लिखित)

"हे सखि! मैं जो मर रहा हूँ, यह सब तुम्हारी करुणा है। मेरे जीवन की हरी-हरी डालियाँ ...."

बस, इतना ही लिख पाए थे। मैंने पूछा—"यह क्या है, गदाधर?"

उन्होंने कहा—"गद्य-काव्य।"

---

* शर्माजी-जैसे संस्कृत-साहित्य के पारदर्शी, विद्वान्, सरल, मधुर भाषी, प्रसन्न-मुख, स्नेहशील, सहृदय, यथार्थ काव्य-मर्मज्ञ के प्रति मेरी यथेष्ट श्रद्धा है। देखकर जी चाहता है, उनकी सेवा करूँ, उन्हें प्रसन्न करूँ। उनकी तरह बिना किसी कारण के स्नेह करनेवाले आचार्य हिंदी में दो-ही-चार मुश्किल से होंगे।

मैंने पूछा—"तुम्हारे मरने से तुम्हारी सखी की करुणा का क्या संबंध ?"

उन्होंने कहा—"कुछ नहीं।"

मैंने कहा—"तब तो यह जरूर गद्य-काव्य है।"

'साहित्य-कला और विरह' पर 'कला के विरह में जोशी-बंधु' लेख लिख जोशी-बंधुओं की विचार-शैली के प्रलाप का प्रतिपादन किया। इस लेख में संबोधन में मेरे शब्द कुछ कटु हो गए हैं, उसके लिये मुझे विशेष दुःख है, और इस विचार से नहीं भी कि यह अपराध अपराध के ही उत्तर में मुझे करना पड़ा, अज्ञान के आवेश में नहीं।

*　　*　　*

जिस समय परमात्मा से मेरा असहयोग चल रहा था, मेरे एक मित्र ने आकर कहा—"पंडितजी, पल्लव तो प्रकाशित हो गया। कल मैं एक प्रति खरीदकर आपको दूँगा।" अवश्य उस समय पंतजी की मित्रता की बानगी, पल्लव की एक प्रति, उनसे न मिलने के कारण उन्हें मैं 'यत्र व्येति तद्व्ययम्' ही कर रहा था।

दूसरे दिन मित्र ने 'पल्लव' की एक प्रति खरीदकर मुझे दी। आलस्यमयी भावनाओं का जाल समेटकर केंद्री-कृत स्थिर बुद्धि से मैं उसे पढ़ने लगा।

उसके 'विज्ञापन' तथा 'प्रवेश' भाग में पंतजी की सार्वभौमिकता के गज से कविता-कामिनी का शयन-जीर्ण, प्राचीन कंथा नपा हुआ तथा उनकी 'प्रतिभा के बछड़े' के हुरये से कवि-समुदाय को पलायन-पंथा पर श्वासावरुद्ध भागता हुआ देखकर बड़ा आनंद आया, जैसे क्षण-मात्र में किसी ने 'पुंगव' को 'पोंगा' कर दिया। एक बार साद्यंत पढ़कर मैं अपने पूर्व भावों पर विचार करने लगा।

जब एक दिन 'पल्लव' के लिये निश्छल सहृदयता का स्रोत हृदय के उभय कूलों को प्लावित कर बहा था, उस समय अवश्य 'पल्लव' के पल्लव में मृत अतीत के साहित्य-महारथियों को डुबाने की पंतजी की चेष्टा पर कभी मुझे विचार करने का अवसर नहीं मिला, न मैं इस तरह का विचार

कर ही सकता था। इस तरह की चेष्टा यदि सत्य की दृष्टि से निष्पाप सिद्ध होती, तो विशेष कुछ लिखने या कहने का अवसर न मिलता, उनके पुष्ट प्रमाण उस सत्य की रक्षा करते। केवल पद-समता के कारण मंडूक की तरह साँस फुलाकर हस्तिकाय कहलाने की चेष्टा पंतजी को न करनी थी।

'पल्लव' के 'प्रवेश' भाग में कविता, ब्रज-भाषा, खड़ी बोली, अतीत के कवि, कवित्त, स्वछंद छंद, बँगला की कविता, निराला के छंद, शब्दों के रूप-राग, स्वर आदि अनेक विषयों को नवाविष्कृत वैज्ञानिक सत्य की हैसियत से हिंदी के दरिद्र भंडार में लाने की पंतजी ने चेष्टा की। अपनी कविता की कारीगरी की व्याख्या तो उन्होंने येन-केन-प्रकारेण अच्छी ही की "परंतु इस कारीगरी का साँचा उन्हें कहाँ मिला, किस तरह वह अपने लिये इतने अच्छे कवि हो गए, कविता पर वह राजनीति-क्षेत्र के वर्तमान नेताओं की तरह कोई जन्म-सिद्ध अधिकार रखते हैं या नहीं, इस तरह के आवश्यक विषयों को उन्होंने प्रच्छन्न नहीं छोड़ रक्खा।

उन्होंने अपनी शिक्षा पर पर्दा डाला। किस तरह, कहाँ-कहाँ से, छाया चित्रों को उनकी प्रकृति ने ग्रहण किया है, उन्होंने नहीं लिखा। यह शायद इसलिये कि इससे महत्ता घट जायगी, लोग समादर कम करेंगे। तथापि एक जिज्ञासु दार्शनिक को वह धोखा नहीं दे सके।

स्वच्छंद छंद के प्रवर्तन का लोभ पंतजी संवरण नहीं कर सके। इसकी आलोचना (पंत और पल्लव) में मुझे पंतजी का विरोध करना पड़ा। उस स्थल के अप्रिय सत्य के लिये मुझे हार्दिक दुःख है। मैं जानता हूँ—एक मार्जित सुहृद् पर मैंने तलवार चलाई। आलोचना लिखने से पहले मेरे बिलकुल दूसरे विचार थे।

एक बार पंतजी ने मुझे लिखा था—"आप केवल मेरी तारीफ़ किया करते हैं, मेरे दोषों से मुझे परिचय नहीं कराते।"

उस समय कुछ साधारण दोषों के उल्लेख कर मैंने उन्हें लिखा था—"आपकी कविता से मुझे आनंद मिलता है, अतएव आनंद को छोड़ निरानंद के विषय को चुनना प्रकृति के खिलाफ़ हो जाता है।"

जिन लोगों को पंतजी की कविता पसंद नहीं आई, जो लोग कई

साल तक निराला को गालियाँ देने में ही अपने पत्र की सफलता समझते रहे, उनका बहुत बड़ा दोष नहीं, क्योंकि उनकी आत्मा ने उन्हें जैसी सलाह दी, उन्होंने किया। यों हरएक कृति में विकार रहता है। चाहे वह कालिदास की हो या श्रीहर्ष की, रवींद्रनाथ की हो या कीट्स की अथवा पंतजी की हो या 'निराला'जी की।

दोष-दर्शन के लिये कभी किसी को प्रयत्न नहीं करना पड़ता। कृति के सामने आते ही गुण और दोष भी सामने आ जाते हैं। पहले एक बार और पंतजी के संबंध में मैंने 'मतवाला' में लिखा था, उस समय भी उनके दोषों के रूप मेरे सामने आ चुके थे। जब 'भावों की भिड़ंत' में 'भावुक' महाशय ने मेरी चोरियाँ दिखलाई थीं। पंतजी के संबंध में मैंने उनसे कहा था—"यह साहित्य है। यहाँ कमज़ोरियों का बहुत स्पष्ट उल्लेख मेरे विचार से अनुचित है, उसी तरह कहीं कुछ भलाई करके इनाम की प्रार्थना भी कुछ हास्यास्पद है।"

बहुत-सी बातों को मुझे दबा रखना पड़ा। 'पल्लव' में मेरी कविता पर ही कुछ लिखने से पहले उचित था कि पंतजी मेरी भी कुछ सलाह ले लेते, जब कि वह मेरे मित्र थे, और इस सलाह से उनके व्यक्तित्व को कुछ नीचा देखना पड़ता, यह तो मैं सोचकर भी नहीं समझ सका। बुद्धि की स्पर्धा में पंतजी ने इकतरफ़ा डिगरी दी। पंतजी जैसे मार्जित मनुष्य से मित्रता का यह निहायत साधारण व्यवहार पूरा न होगा, मुझे आशा न थी। उन्हें कमज़ोर सिद्ध करने के अपराध में मैं उनसे क्षमा-प्रार्थना करता हूँ। उनके अपराध की गुरुता को मैं सिर्फ़ इसलिये नहीं सहन कर सका कि प्रतिभा के युद्ध में उन्होंने बेक़सूर निराला को मारा, और अपने संबंध में सब कुछ पी गए। यह सब मुझे निहायत असंयत अन्याय के रूप में दिखलाई पड़ा।

पंतजी ने लिखा था, उनके कुछ मित्र मेरी भी आलोचना करना चाहते हैं। मैंने अपनी कविताओं के संबंध में इजहार दिया था कि अच्छा हो, इस कार्य का भार पंतजी स्वयं उठाने का कष्ट स्वीकार करें।

तीरों को तूर्ण में रखकर अकारण बोझ लिए हुए फिरने से तूर्ण को खाली कर देना अच्छा है। इस विचार से मैं अपने संबंध में चुप रहा।

पत्रों के संपादकों और वृद्ध साहित्यिकों की हास्य-क्रूर, वक्र दृष्टि से साहित्य की रक्षा करता रहा। वे लोग तीन पुश्त तक दाँव चुकाने की हिंसा धारण किए हुए थे।

ख़ैर, यहाँ पंतजी की कविता-कामिनी के लाड़ले भाव-त्रिशंकु को साहित्य के नभोमंडल में गति-रहित निराधार छोड़ रखना मुझे अनुचित प्रतीत हुआ।

अनंतर

मास - मास, दिन-दिन, प्रतिपल
उगल रहे हो गरल - अनल ;
जलता यह जीवन असफल ।

ऐसे ही संसार के बीते दिन, पक्ष, मास,
वर्ष कितने ही हज़ार !

मैं निरर्थक पिता !

एक बार मैं अपने चिरंजीव[1] को आम खिलाने के विचार से लिवा आने के लिये ससुराल गया। तब उसकी उम्र ९-१० साल की होगी। सोम या चहरु म में पढ़ता था। मेरे यहाँ उसके मनोरंजन की चीज न थी। कोई स्त्री भी न थी, जिसके प्यार से वह बहला रहता।

एक दिन लड़के ने जवाब दिया—"मुझे मामा के यहाँ छोड़ आइए! यहाँ डाल के आम खट्टे होते हैं, चोपी होती है, मुँह फदक जाता है, वहाँ पाल के आम आते हैं।"

मैंने चिरंजीव को नाई के साथ भेज दिया।

गार्हस्थिक संन्यासी हूँ,
साहित्यिक हूँ, कवि हूँ।
हमेशा मैं घूमता रहा—
कल्पना के पुल पर... ।[2]

कालांतर में (रामकृष्ण) मुलाक़ात होने पर मुँह फेर लेते थे। मुझसे सारी दुनिया इसी तरह पेश आई या आँख न मिलाती दिखी। यह मेरी प्रतिभा का परिचय था या और कुछ, भगवान् जाने! जैसे रुपए पैदा करने में लाचारी थी, वैसे ही चिरंजीव से मिलने में।

"कोई नहीं पूछता, न पूछे;
भरे रह गए हैं वे, इसलिये
तेरी नजरों में हैं छूछे!
बोलते हैं लोग ज्यों मुँह फेरकर!"

---

१. श्रीरामकृष्ण त्रिपाठी।

२. श्रीरामकृष्ण के विवाहोत्सव के निमंत्रण-पत्र का अंश।

धन्ये★ ! मैं पिता निरर्थक था,
कुछ भी तेरे हित कर न सका !
शुचिते ! पहनाकर चीनांशुक
रख सका न तुझे अतः दधिमुख ।
अस्तु, मैं उपार्जन को अक्षम,
कर नहीं सका पोषण उत्तम ।
कुछ दिन को जब तू रही साथ—
अपने गौरव से झुका माथ,
पुत्री भी पिता गेह में स्थिर—
छोड़ने के प्रथम जीर्ण अजिर ।
तू सवा साल की जब कोमल,
पहचान रही ज्ञान में चपल;
मा का मुख हो चुंबित क्षण-क्षण
भरती जीवन में नव जीवन;
वह चरित पूर्ण कर गई चली,
तू नानी की गोद जा पली ।
मैं दूर स्थित प्रवास से चल,
दो वर्ष बाद होकर उत्सुक
देखने के लिये अपने मुख
था गया हुआ, बैठा बाहर
आँगन में फाटक के भीतर
मोढ़े पर, ले कुंडली हाथ—
अपने जीवन की दीर्घ - गाथ—
आई तू पुतली खिल, खिल, खिल
हँसती, मैं हुआ पुनः चेतन—
सोचता हुआ विवाह - बंधन !

★ दिवंगत कन्या सरोज के प्रति संबोधन ।

कुंडली दिखा बोला—"ये, लो,
आई तू, दिया, कहा, खेलो!"
तू बैठी संचित टुकड़ों पर।
धीरे - धीरे फिर बढ़ा चरण,
बाल्य की केलियों का प्रांगण
कर पार कुंज तारुण्य सुघर।
सासु ने कहा लख एक दिवस—
"भैया, अब नहीं हमारा वश,
पालना - पोसना रहा काम,
देना सरोज को धन्य धाम
शुचि वर के कर कुलीन लखकर
है काम तुम्हारा धर्मोत्तर।
अब कुछ दिन इसे साथ लेकर
अपने घर रहो, ढूँढ़कर वर
जो योग्य तुम्हारे, करो ब्याह।
होंगे सहाय हम सहोत्साह।"
सुनकर, गुनकर चुपचाप रहा,
कुछ भी न कहा—न अहो, न अहा।
ले चला साथ मैं तुझे कनक,
ज्यों भिक्षुक लेकर स्वर्ण - झनक।
अपने जीवन की प्रभा विमल
ले आया निज गृह - छाया - तल।
सोचा मन में हत बार - बार—
"ये कान्यकुब्ज - कुल - कुलांगार;
खाकर पत्तल में करें छेद,
इनके कर कन्या, अर्थ खेद?"
फिर सोचा—'मेरे पूर्वजगण
गुजरे जिस राह, वही शोभन

होगा मुझको, यह लोक-रीति
कर दूँ पूरी, गो नहीं भीति
कुछ मुझे तोड़ते गत विचार।
फिर आई याद—"मुझे सज्जन,
है मिला प्रथम ही विद्वज्जन
नवयुवक एक, सत्साहित्यिक,
कुल कान्यकुब्ज यह नैमित्तिक,
होगा कोई इंगित अदृश्य,
मेरे हित है हित यही स्पृश्य
अभिनंदनीय।" बँध गया भाव,
खुल गया हृदय का स्नेह-स्राव,
खत लिखा, बुला भेजा तत्क्षण,
युवक भी मिला प्रफुल्ल, चेतन।
बोला मैं—"मैं हूँ रिक्त-हस्त
इस समय, विवेचन में समस्त—
जो कुछ है मेरा अपना धन
पूर्वज से मिला, करूँ अर्पण।
यदि महाजनों को, तो विवाह
कर सकता हूँ, पर नहीं चाह
मेरी ऐसी, दहेज देकर
मैं मूर्ख बनूँ, यह नहीं सुघर,
बारात बुलाकर मिथ्या-व्यय
मैं करूँ, नहीं ऐसा सुसमय।
तुम करो ब्याह, तोड़ता नियम
मैं सामाजिक योग के प्रथम,
लग्न के पढ़ूँगा स्वयं मंत्र,
यदि पंडितजी होंगे स्वतंत्र।
जो कुछ मेरे, वह कन्या का,
निश्चय समझो, कुल धन्या का।

आए पंडितजी, प्रजावर्ग,
आमंत्रित साहित्यिक, ससर्ग
देखा विवाह आमूल नवल,
तुझ पर शुभ पड़ा कलश का जल।
देखा मैंने, वह मूर्ति - धीति,
मेरे वसंत की प्रथम गीति।
हो गया ब्याह, आत्मीय स्वजन
कोई थे नहीं, न आमंत्रण
था भेजा गया, विवाह - राग
भर रहा न घर निशि-दिवस जाग ;
प्रिय मौन एक संगीत भरा
नव जीवन के स्वर पर उतरा।
मा की कुल शिक्षा मैंने दी,
पुष्प - सेज तेरी स्वयं रची,
सोचा मन में—"वह शकुंतला
पर पाठ अन्य, यह अन्य कला।"
कुछ दिन रह गृह तू फिर समोद,
बैठी नानी की स्नेह - गोद।
मामा - मामी का रहा प्यार,
भर जलद धरा को ज्यों अपार ;
वे ही सुख - दुख में रहे न्यस्त,
तेरे हित सदा समस्त व्यस्त ;
वह लता वहीं की, जहाँ कली
तू खिली, स्नेह से हिली, पली,
अंत भी उसी गोद में शरण
ली, मूँदे दृग वर महामरण !

खंडित कर डाला भाग्य-अंक !

मैं लखनऊ आकर कुछ दिनों बाद घर लौटा। मन में बड़ी उथल-पुथल थी। कन्यादायग्रस्तों की संख्या दिनोंदिन अधिक दिखी। बड़ा गुस्सा आया। ससुराल चला गया।

गर्मियों में प्रायः डेढ़ महीना डलमऊ रहना पड़ा। ससुराल में श्रीमतीजी की जगह शिशुकर-कृत कपोल-कज्जला सलहज साहबा (बीबी) थीं। पहाड़ जाने की अक्षमता ने ससुराल की ओर मुँह फेरा। कई साल नहीं गया था। फलतः तीसरे दिन लौटने की नौबत नहीं आई।

पहले का कुछ त्याग भी था। ससुरजी आधा हिस्सा अपनी बेटी को दे रहे थे, मैंने नहीं लेने दिया। कहा—"एक तरफ़ बाप का आधा हिस्सा है, दूसरी तरफ़ पूरा मैं; एक लो।" श्रीमतीजी ने मुझे ही पसंद किया। एक कारण और है; मैंने श्रीमतीजी की खाली जगह नहीं भरी, प्रायः बीस साल हुए, इसलिये सासुजी मुझे अपनी बेटी समझती हैं, और सलहज साहबा ननद। इच्छा होने पर बातचीत छेड़ देता था, घूंघट के भीतर से शृंगार-साहित्य के उत्तर बड़े भले मालूम पड़ते थे।

एक दिन मैंने कहा—"महात्माजी पर्दे के खिलाफ़ प्रचार कर रहे हैं, फिर तुम मेरे सामने क्यों घूंघट करती हो ?"

उन्होंने कहा—"यों मेरी इच्छा नहीं है, लेकिन यहाँ के आदमी ऐसे हैं कि कुछ का कुछ सोच लेते हैं।"

मैंने कहा—"तो अपनी आँखें ढककर दूसरों की आँखों पर पर्दा डालना चाहती हो ? रहस्यवाद अच्छा है !"

बड़े आनंद से रहा। काफ़ी पोइट्री (कविता) मिली। दोनो वक़्त गंगा नहाना, डटकर भोजन करना, एक वक़्त कसरत, फ़ालतू समय सलहज साहबा से व्रज-भाषा-काव्यालाप। सलहज साहबा छोटी हैं, पद में, यों

कई बच्चे की मा हैं; घूँघट काढ़ती हैं, लेकिन छायावाद लिखते-लिखते मश्क ऐसी बढ़ी है कि झीने घूँघट के भीतर उनके सुंदर मुख की छाँह मेरी निगाह में साफ़ रंग, रेखा, भाव और ज्योति लिए प्रतीत होती थी। वह समझती थीं—मैं पर्दे में हूँ। मैं समझता था—मैं मजे में देख रहा हूँ।

फ़ैजाबाद में लेक्चर्स में नहीं गया। कई जगह कवि-सम्मेलन का सभापतित्व था, लिखा—इलाज करा रहा हूँ। कई जगहों से वैवाहिक निमंत्रण आए, लिख दिया—अब विवाह में मैं नहीं जाता, मुझे भावावेश होता है। संपादकों ने रचनाएँ माँगीं, समझा दिया लिखकर, बिहारी का है, किसका है, वह बादवाला टुकड़ा—जगत तपोवनमय कियो।

घर में जैसा आनंद, बाहर भी वैसा ही। सुप्रसिद्ध ज्योतिषी पं० गिरिजादत्तजी त्रिपाठी के यहाँ गीत-वाद्य लगा ही हुआ। देश-भर के गुणी आते-जाते हैं, कभी अच्छन आए, तो कभी नौरँग। बटमार तो रोज दो-चार पहुँचते हैं, जिन्हें रास्ता चलते आटा-दाल की जरूरत होती है।

ज्योतिषीजी और उनके छोटे भाई वैद्यरत्नजी (मंझू महाराज) बड़ी पैनी निगाह के आदमी, साथ ऊँचे दर्जे के सभ्य, देहात में जैसे व्यक्ति अलभ्य कहे जाते हैं। सबकी इज्जत, सबकी प्रशंसा करनेवाले। मेरी शादी पंडितजी के पूज्य पिता ने तय की थी। तब से इस ज्योतिषी-परिवार पर मेरी बड़ी श्रद्धा है। ये लोग मुझे कुल-कमल कहते हैं। सुनने में मुझे बुरा नहीं मालूम देता। प्रायः उनके यहाँ जाया करता था। देर हो जाती थी, तो मंझू महराज बुला भेजते थे। दो बजे से छ बजे तक ताश होते थे—ब्रिज नहीं, न टुएंटी नाइन, न लिट्रेचर, न ब्लैक कुइन, न स्क्रू—बस सात हाथ। ठंडाई और गंगा-स्नान के बाद कसरत और फिर संगीत। प्रातःकाल गोश्त पकाने में व्यतीत होता था या किसी कवि या विद्वान् की किताबी प्रतिभा में।

आनंद का आकर्षण जबरदस्त होता है। मैरिस कॉलेज, लखनऊ के मृदंगाचार्य पं० सखारामजी रह नहीं सके, दलमऊ आए। मुझे स्नेह करते······चि० रामकृष्ण उनका शिष्य। यद्यपि उसके साथ एक बार आ चुके थे, फिर भी इस बार मेरे मुख से ग्रीष्म की शीर्ण स्वच्छ-तोया, प्रखरा गंगा का माहात्म्य सुना था, लखनऊ में जब मैं था, और साथ-

साथ मेरे ससुराल के संबंध में अतिशयोक्ति अलंकार, जिसमें घन-वृक्ष-पत्रच्छायाच्युतरश्मि-लेखा शीत सैकत-सलिला दलमऊ की प्रभात-बेला की वर्णना थी, पर धूल और बालू से धुआँधार गर्मी की दुपहर का ज़िक्र न था। स्वप्न-ज्योत्स्नामयी, विमला, क्षण-कल्प-तरला, पश्चिम-समीर-शीतलारात्रि का वर्णन तो था, पर मच्छड़ों के अविराम भनभनाने और काटते रहने की बात न थी। पं० सखारामजी तीन-चार दिन रहकर चलते समय मुस्किराते हुए बोले—"वास्तव में बड़ा आनंद आया।"

एक दिन दोपहर को बेंती चलने की बात हुई, नाव से दलमऊ से पाँच मील पूर्व है। पहले मंझू महाराज से भौन कवि के कवित्त सुन चुका था। यह भी मालूम कर चुका था कि भौन बेंती के थे। पहले मेरी स्त्री की एक महराजिन गार्जियन थी, वह बेंती की थी, इसलिये बेंती में कविता विशेष मिली, मैं चलने को राज़ी हो गया।

हम लोग चले। नाव पर पं० गिरिजादत्तजी, मंझू महाराज, मुन्नू बाबू, पं० गिरिजादत्तजी के एक रिश्तेदार और मैं। तरह-तरह की बातें होती रहीं, भौन कवि के संबंध में ख़ास तौर से। पंडितजी बंदूक़ लिए हुए थे। घड़ियाल देखते जाते थे। एक बड़ा कछुआ किनारे से कूदा। घड़ियाल की माँद ख़ाली थी। अमरूद के बग़ीचे मिले, जहाँ मैं कई बार जा चुका था। एक रेती पर कुछ चिड़ियाँ बैठी थीं, दरियाई। इच्छा हुई, कहूँ—एक फ़ायर कीजिए, पर रुक गया। पंडितजी मारते हैं, खाते नहीं।

बेंती आई। एक कुत्ता मिला, पागल-पागल-सा। पंडितजी ने बंदूक़ दिखाई, तो वह दुम हिलाने लगा। गाँव का था। गाँव जाते देखा, तो वह भी साथ हो लिया। जिसके नजदीक आता, वही कसौली सोचकर घबराता, ढेले उठाकर चलाता। न ढेले चलाना छूटा, न कुत्ते का पीछा करना। तब तक याद हो आई, पागल कुत्ता पीछे से काटता है।

बेंती आई। छोटा गाँव, ऊँचे कगार पर बसा है। सामने गंगा, बग़ल से रास्ता। हम लोग बढ़े। कुआँ मिला। घड़े भरे एक स्त्री। पं० गिरिजादत्तजी ने कार्य-सिद्धि का कोई मंत्र पढ़ा। मैंने मन में कहा—"पहले कुत्ता मिला है, तब यह कुछ नहीं बोले! देखा जाय, क्या होता है।

हम लोग एक कान्यकुब्ज कुलीन श्रीमान् के यहाँ गए। पंडितजी ने

पूछा नौकरों से, तब तक वह स्वयं आ गए। बातचीत होने लगी। पंडितजी परिचित थे, हम लोग अपरिचित। परिचय हुआ। पंडितजी ने मेरे लिये कई 'तम' एक वाक्य में जोड़े। कान्यकुब्ज महाशय भी एक 'तम' थे। साम्य की प्रिय भावना से मुझे देखा, फिर बातचीत होने लगी, वैवाहिक। अब मैं वहाँ जाने का कारण समझा।

उठकर मुन्नू बाबू के साथ मौन कवि का भवन देखने चला। उस समय कान्यकुब्ज महाशय—आस्पद, घर, आँक, शिखा-सूत्र-न-जाने क्या-क्या पूछ-पूछकर लिख रहे थे। देख-दाखकर हम लोग लौटे। फिर सबके साथ नाव की ओर चले।

कुछ दिन बाद मालूम हुआ, भरे घड़े की अपेक्षा कुत्तेवाला प्रभाव बलवान् हुआ।

*　　　　*　　　　*

पढ़ लिखे हुए थे दो विवाह,
हँसता था, मन में बड़ी चाह
खंडित करने को भाग्य-अंक।
देखा भविष्य के प्रति अशंक।

इससे पहले आत्मीय स्वजन सस्नेह कह चुके थे—जीवन
सुखमय होगा, विवाह कर लो, जो पढ़ी-लिखी हो, सुंदर हो।

आए ऐसे अनेक परिणय, पर बिदा किया मैंने सविनय
सबको, जो अड़े प्रार्थना भर नयनों में पाने को उत्तर

अनुकूल, उन्हें जब कहा निडर—'मैं हूँ मंगली', मुड़े सुनकर।
इस बार एक आया विवाह, जो किसी तरह भी हतोत्साह

होने को न था, पड़ी अड़चन, आया मन में भर आकर्षण
उन नयनों का, सासु ने कहा—"वे बड़े भले जन हैं भैया!

एंट्रेंस पास है लड़की वह; बोले मुझसे—'छब्बिस ही तो
वर की है उम्र, ठीक ही है, लड़की भी अट्ठारह की है।'

फिर हाथ जोड़ने लगे, कहा—'वे नहीं कर रहे ब्याह अहा !
हैं सुधरे हुए, बड़े सज्जन, अच्छे कवि, अच्छे विद्वज्जन !
हैं बड़े नाम उनके, शिक्षित लड़की भी रूपवती समुचित;
आपको यही होगा कि कहें हर तरह उन्हें; वर सुखी रहें,
आएँगे कल'''; दृष्टि थी शिथिल...सोचता हुआ विवाह-बंधन।
कर स्नान शेष, उन्मुक्त केश सासुजी रहस्य - स्मित सुवेश
आई करने को बातचीत, जो कल होनेवाली अजीत।
संकेत किया मैंने अखिन्न, जिस ओर कुंडली छिन्न - भिन्न !

हिंदी बनाम हिंदुस्तानी : बापू से दो बातें

हिंदी राष्ट्र-भाषा है, यह आवाज़ गांधीजी की बुलंद की हुई है, पर अपने नेतृत्व के पक्षपाती गांधी हिंदी के प्रश्न पर स्वयं बदल गए। हिंदी की मुखालिफ़त होने के साथ-साथ मैंने वस्तु रूप से आदमी और विषय रूप से उसके मन की जाँच की। गांधीजी का जीवन केवल बाहरी स्वतंत्रता की लड़ाई का जीवन है, लेकिन एक स्वतंत्र साहित्यिक, एक पहुँचा दार्शनिक वस्तु-विषय की बाल की खाल निकाले बग़ैर नहीं रह सकता। यह उसकी खुसूसियत है। वैसा ही जीवन, जैसा गांधीजी का, महत्त्व की दृष्टि से बढ़कर नहीं, तो घटकर भी नहीं, जिससे आगे और नहीं या जिससे ज्यादा और बन नहीं पड़ता।···खैर, हमारा मतलब महान् गांधीजी की भाषा-संबंधी राजनीति से है, जिन्होंने हिंदी के द्वारा हिंदी-भाषी पंद्रह करोड़ जनता की भावना-जन्य स्वतंत्रता बात-की-बात में मार दी।

गांधीजी १९३५-३६ में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के फिर सभापति होते हैं। अब तक गांधीजी के दोनो आंदोलन हो चुकने हैं, और वह देश और विश्व के सामने अपनी पूरी महत्ता से प्रकट हो जाते हैं। इंदौर में इस बार रुपए के मामले में गांधीजी से जो भाव-ताव हुआ था और जो परिणाम, उसका उल्लेख अनावश्यक है।

यहाँ उन्होंने हिंदी के साथ—हिंदुस्तानी—एक लफ़्ज़ और जोड़ा था, यह ध्यान देने की बात है। जब भी महात्मा गांधी खिलाफ़त-आंदोलन में मुसलमानों का साथ दे चुके थे, और हिंदी की सीधी खिचड़ी-शैली के ही पक्षपाती थे—यह काम आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी उनसे बहुत पहले कर चुके थे—फिर भी इंदौरवाली हिंदुस्तानी में साधारण मजाक़ नहीं रहा। मैं समझता हूँ, नेता हिंदुओं का नेता तो बन ही चुका था, मुसलमानों का भी बनना था। भूषण का आंदोलन भी कुछ अर्थ रखता

है। यहीं, इंदौर में, महात्माजी ने एक आवाज़ मारी—"कौन है हिंदी में रवींद्रनाथ ठाकुर, जगदीशचंद्र बसु, प्रफुल्लचंद्र राय ?"

इस आवाज पर हिंदी के पात्रों ने आवाजाकशी की। इत्तिफ़ाक़, लखनऊ-कांग्रेस शुरू हुई। महात्माजी आए। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के संग्रहालय का उद्घाटन था, महात्माजी दरवाजा खोलने के लिये बुलाए गए। उस वक्त उन्होंने फिर वैसी ही एक आवाज लगाई।

हर आवाज का अच्छा मतलब भी हासिल होता है, हम निकाल लेते हैं, लेकिन व्यवहार में भी अगर आवाजाकशी हुई, तो सँभले-से-सँभला आदमी भी नहीं सँभल सकता। चूंकि महात्माजी लखनऊ में टिके हुए थे, इसलिये पता लगाना लाजिमी हो गया, उन्होंने यह आवाज लगाई या आवाजाकशी की।"

तबियत में आया, महात्माजी से बातचीत की जाय, 'हिंदी में कौन है रवींद्रनाथ' कहकर महात्माजी क्यों रह-रहकर चौंक उठते हैं; लेकिन मेरे लिये उस वक्त महात्माजी रहस्यवाद के विषय हो गए, कहीं खोजे ही नहीं मिले।

उनके कुछ भक्तों ने कहा, पता बताना मना है, लोग महात्माजी को परेशान करते हैं। कांग्रेस-ऑफ़िस में पूछने पर मालूम हुआ, उधर कहीं गोमती-पार रहते हैं। इतना विशद पता प्राप्त कर, गोमती के पुल के किनारे आकर खड़ा बाट जोह रहा था कि बापू की बकरी ताँगे पर बैठाए एक आदमी लिए जा रहा था, और कुछ लखनउए लड़के ठहाका मार रहे थे। उनकी बातचीत से मुझे मालूम हुआ कि यह बापू की बकरी जा रही है। मैं समझ गया, इसी रास्ते पर आगे कहीं ठहरे हैं। घर लौटा, और कपड़े बदले, फिर बापू के दर्शन के लिये एक्का करके चला।

युनिवर्सिटी के आगे जाते हुए रास्ते के दाईं ओर एक बँगले में महात्माजी ठहरे थे। दिन, आठ का समय। जब गया, तब एक कमरे में गांधीजी जवाहरलालजी और राजेंद्रप्रसादजी आदि से बातें कर रहे थे, मालूम हुआ।

दरवाजे पर एक स्वयंसेवक पहरा दे रहा था। मैं बापू से मिलना चाहता हूँ, सुनकर पहले उसी ने फ़ैसला दे दिया—'मुलाकात नहीं होगी।'

यद्यपि सिपाही से मज़ाक़ करना नियम नहीं, फिर भी मज़ाक़ का बदला चुकाने में कोई दोष भी नहीं, सोचकर मैंने पूछा—"क्या आप महात्माजी के सिकत्तर हैं या पर्सनल असिस्टेंट ?"

स्वयंसेवक झेंपा, और अपनी झेंप मिटाने के लिये एक मर्तबा भीतर चला गया।

मैंने एक चिट्ठी दी थी, वह उसने पहले ही वापस कर दी थी। दुबारा आने पर मैंने वह चिट्ठी फिर दिखाई, और कहा—"इतना तो आप पढ़े ही होंगे कि यह चिट्ठी किनके नाम है, उनके पास पहुँचा दें।"

चिट्ठी में मिलने की इच्छा ज़ाहिर करते हुए वक़्त पूछा गया था। स्वयंसेवक चिट्ठी भीतर रखकर क्षण-भर में लौटा, और कहा—"शाम को आइए। महात्माजी के सेक्रेटरी महादेवजी देसाई की आज्ञा है।"

मेरे घर में कई कांग्रेस-दर्शक टिके थे। मैं महात्माजी के दर्शनों के लिये, उनसे बातचीत करने के लिये शाम को जा रहा हूँ, सुनकर उनमें दो साथ होने को हुए—पं० वाचस्पतिजी पाठक और कुँवर चंद्रप्रकाशसिंह।

शाम को इन लोगों के साथ मैं चला। जब पहुँचा, तब स्त्रियों और पुरुषों का एक बड़ा दल इकट्ठा था। कुछ भीतर टहल रहे थे, कुछ रास्ते के दोनो बग़ल की कम ऊँची दीवारों पर बैठे थे। मालूम हुआ, यह शाम की प्रार्थना में शरीक होने के लिये आए हैं।

किसी से परिचय न था। बिना परिचय के प्रवेश में सब जगह अड़चन पड़ती है। इसी समय शीतलासहाय, हिंदी के सुप्रसिद्ध निबंध-लेखक, बँगले से बाहर निकले। इन्होंने मुझसे आने का कारण पूछा। मैंने बतलाया। इन्होंने कहा—"महात्माजी आजकल किसी से मिलते नहीं।"

मैंने कहा—"सुबह मैंने बहुतों से बातचीत करते देखा है।"

इन्होंने कहा—"वे बड़े-बड़े नेता हैं, उनसे सलाह लेने आते हैं।"

मैंने कहा—"वे जितने बड़े नेता हैं, मैं उनसे बड़ा साहित्यिक हूँ, और हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति को मुझसे मिलने में किसी तरह का संकोच न होना चाहिए।"

बाबू शीतलासहाय बहुत ख़ुश हुए। बोले—"अभी ज़रा देर बाद महात्माजी बाहर प्रार्थना के लिये निकलेंगे, उस वक़्त आप आइएगा, मैं

भी हूँ, देसाईजी से आपको मिला दूंगा। अगर आज मुलाक़ात नहीं होगी, तो समय निर्धारित हो जायगा।"

मैं बाहर आई० टी० कॉलेज की तरफ़, पं० वाचस्पति पाठक और कुँअर चंद्रप्रकाशसिंह के साथ, टहलता हुआ निकल गया। रास्ते में सम्मिलित प्रार्थनार्थी कई जोड़े तपाक से बढ़ते हुए दिखे। मुझे खद्दर के वेश में देखकर उद्वेग से पूछा—"क्या प्रार्थना समाप्त हो गई?"

मैंने कहा—"नहीं।"

वे और तेज क़दम बढ़े।

धीमे तिताले टहलता हुआ दोनो साहित्यिक मित्रों के साथ मैं आया कि प्रार्थनार्थियों की पल्टन ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा बैठी हुई देख पड़ी।......मैं बैठना ही चाहता था कि एक महाशय ने जल्दबाजी करते हुए मुझे एक धक्का-सा देकर वह जगह छीन ली। वह कोई कांग्रेसी थे। मेरी इच्छा हुई कि कलाई पकड़कर घसीटूँ, लेकिन महात्माजी आ गए थे, मैंने शांति-भंग करना उचित नहीं समझा!

हम लोगों की तरफ़ से पं० वाचस्पति पाठक एक अच्छी जगह डट-कर बैठे थे। मैं ज़मीन पर बैठा। अधिक-से-अधिक पाँच मिनट वक़्त लगा होगा, प्रार्थना समाप्त हो गई। महात्माजी उठे, और भीतर चले गए।

एक तो दुर्भाग्य से उस समय तक मैंने देसाईजी को देखा नहीं था, दूसरे मुँह-अँधेरे मुझे मालूम दे रहा था, यह आर० एस० पंडित हैं, तब भी शंका होती थी कि यह उनसे ज्यादा तगड़े हैं। इसी समय बाबू शीतलासहाय आए। मैंने गर्वमंद की आवाज़ में उनसे कहा—"मैं देसाईजी को पहचानता नहीं, आप मिला दीजिए।"

शीतलासहायजी मुझे देसाईजी के पास ले चले, और कुछ शब्दों में उनसे मेरी तारीफ़ की—जैसा कि कहते हैं—ये बड़े होनहार हैं। इसी समय श्रीमती कस्तूरी बाई उधर से गुज़रीं। मैं खड़ा था। उनका सिर मेरी कमर के कुछ ही ऊपर था, लेकिन भक्ति-भाव से हाथ जोड़कर मैंने उन्हें प्रणाम किया।

देसाईजी से बातें होने लगीं। देसाईजी को यह मालूम होने पर कि मैं सुबह आया था, एक चिट्ठी दी थी, और स्वयंसेवक के कथनानुसार देसाईजी

ने शाम को मुझे आने की आज्ञा दी है, देसाईजी को बड़ा आश्चर्य हुआ।

उन्होंने कहा—"न मुझे आपकी कोई चिट्ठी मिली है, और न मैंने आपको आने को कहा है।" इसके बाद उन्होंने पूछा—"आप महात्माजी से क्यों मिलना चाहते हैं ?"

मैंने कहा—"मैं राजनीतिक महात्माजी से नहीं मिलना चाहता, मैं तो हिंदी-साहित्य के सभापति गांधीजी से मिलना चाहता हूँ।"

इससे बातचीत का विषय स्पष्ट हो गया। देसाईजी एक शिष्ट, सभ्य, शिक्षित मनुष्य की तरह मुझे बँगले के भीतर प्रतीक्षा करने के लिये कह-कर महात्माजी के कमरे की तरफ़ गए।

मैं बँगले के बीचवाले कमरे में एक कोच पर बैठा प्रतीक्षा कर रहा था। तब मेरे बाल बड़े-बड़े थे, कवि की वेश-भूषा। नौजवान और नव-युवतियाँ मुझे सहर्ष देख-देख जाने लगीं। वायुमंडल, मनोमंडल, वदन-मंडल और भावमंडल मुझे बड़ा अच्छा लगा। महात्माजी की लोगों पर, युवक-युवतियों पर, जो छाप थी, उसकी ह्लादिनी शक्ति ज्ञात हो गई।

महादेवजी देसाई आए, और कहा—"महात्माजी आपसे मिलेंगे, बीस मिनट आपको वक़्त दिया है, जाइए।"

मैं भीतर चला, मेरे साथ पं० वाचस्पति पाठक और कुँ० चंद्रप्रकाश। उत्तर तरफ़ के कमरे में महात्माजी थे, पास बाबू शिवप्रसादजी गुप्त, उनके सेक्रेटरी हास्य-रस के प्रसिद्ध लेखक अन्नपूर्णानंदजी मंगलाप्रसाद-पारितोषिक-प्रदाता स्व० बाबू मंगलाप्रसादजी के लड़के बैठे थे। उस समय तक व्यक्तिगत रूप से केवल बाबू शिवप्रसादजी को जानता था। महात्माजी सूक्ष्म मन के तार से इन लोगों से मिले, आगंतुक के लिये कुछ अपने में खिंचे, तैयार होते हुए-से दिखे।

कमरे के भीतर जाने के साथ मेरी निगाह महात्माजी की आँखों पर पड़ी। देखा, पुतलियों में बड़ी चालाकी है। हर्डल रेस, कुश्ती और फ़ुट-बाल से मेरे दोनो पैरों में गहरी चोटें आ चुकी हैं, इसलिये एकाएक घुटने तोड़कर भूमिष्ठ प्रणाम नहीं कर सकता, फिर उन दिनों से अब तक बाएँ पैर में वात या सायटिका। मैंने खड़े-ही-खड़े महात्माजी को हाथ जोड़कर प्रणाम किया।

प्रणाम-संबंध में मेरे साथियों ने मेरा अनुसरण किया। प्रणाम कर मैं महात्माजी के सामने बैठ गया। मेरे साथी भी बैठे। महात्माजी ने, मेरे बैठ जाने पर, उसी तरह हाथ जोड़कर मुझे प्रति नमस्कार किया। आँखों में दिव्यता, जो बड़े आदमी में ही दिखती है—बड़े धार्मिक आदमी में, लेकिन दृष्टि आधी बाहर—दुनिया को दी हुई जैसे, आधी भीतर—अपनी समझ की नाप के लिये। मेरा पहनावा विशुद्ध बंगाली, पंजाबी कुर्ता, धोती कोंछीदार, ऊपर से चद्दर खद्दर की।

महात्माजी ने पूछा—"आप किस प्रांत के रहनेवाले हैं?"

इस प्रश्न का गूढ़ संबंध बहुत दूर तक आदमी को ले जाता है। यहाँ नेता, राजनीति और प्रांतीयता की मनोवैज्ञानिक बातें रहने देता हूँ, केवल इतना ही बहुत है, हिंदी का कवि हिंदी-विरोधी बंगाली की वेश-भूषा में क्यों?

मैंने जवाब दिया—"जी, मैं यहीं उन्नाव-ज़िले का रहनेवाला हूँ।"

महात्माजी पर ताज्जुब की रेखाएँ देखकर मैंने कहा—"मैं बंगाल में पैदा हुआ हूँ, और बहुत दिन रह चुका हूँ।"

महात्माजी की शंका को पूरा समाधान मिला। वह स्थितप्रज्ञ हुए, लेकिन चुप रहे; क्योंकि बातचीत मुझे करनी थी, प्रश्न मेरी तरफ़ से उठना था।

मैंने कहा—"आप जानते हैं, हिंदीवाले अधिकांश में रूढ़िग्रस्त हैं। वे जड़ रूप ही समझते हैं, तत्त्व नहीं। जो कथाएँ पुराणों में आई हैं, उनके स्थूल रूप में सूक्ष्मतम तत्त्व भी हैं। संपादक और साहित्यिक भी, अधिक संख्या में, इनसे अज्ञ हैं। वे समझने की कोशिश भी नहीं करते, उल्टे मुखालिफ़त करते हैं। हम लोगों के भाव इसीलिये प्रचलित नहीं हो पाए। देश की स्वतंत्रता के लिये पहले समझ की स्वतंत्रता ज़रूरी है। मैं आपसे निवेदन करने आया हूँ कि आप हिंदी की इन चीज़ों का कुछ हिस्सा सुनें।"

महात्माजी—"मैं गुजराती बोलता हूँ, लेकिन गुजराती का साहित्य भी बहुत कुछ मेरी समझ में नहीं आता।"

"मैंने गीता पर लिखी आपकी टीका देखी है। आप गहरे जाते हैं

और दूर की पकड़ आपको मालूम है, आपने उसमें समझाने की कोशिश की है।"

महात्माजी—"मैं तो बहुत उथला आदमी हूँ।"

मैं—"हम लोग उथले में रहे हुए को गहरे में रहा हुआ साबित करने की ताक़त रखते हैं।"

महात्माजी चुप रहे।

मैंने कहा—"आपके सभापति के अभिभाषण में हिंदी के साहित्य और साहित्यिकों के संबंध में, जहाँ तक मुझे स्मरण है, आपने एकाधिक बार पं० बनारसीदास चतुर्वेदी का नाम सिर्फ़ लिया है। इसका हिंदी के साहित्यिकों पर कैसा प्रभाव पड़ेगा, क्या आपने सोचा था?"

महात्माजी—"मैं तो हिंदी कुछ भी नहीं जानता।"

मैं—"तो आपको क्या अधिकार है कि आप कहें कि हिंदी में रवींद्रनाथ ठाकुर कौन हैं?"

महात्माजी—"मेरे कहने का मतलब कुछ और था।"

मैं—"यानी आप रवींद्रनाथ का जैसा साहित्यिक हिंदी में नहीं देखना चाहते, प्रिंस द्वारकानाथ ठाकुर का नाती या नोबुल-पुरस्कार-प्राप्त मनुष्य देखना चाहते हैं, यह?"

कुल सभा सन्न हो गई। लोग ताज्जुब से मेरी तरफ़ देखने लगे। कुं० चंद्रप्रकाश से पहले मैं कह चुका था कि महात्माजी की बातें लिख लें, लेकिन वह इस समय तक तन्मय होकर केवल सुन रहे थे। मैंने उनकी तरफ़ देखा, तो वह समझकर लिखने लगे। साथ ही महादेव देसाई के हाथ में जैसे बिजली की बैटरी लगा दी गई, वह भी झपाटे से लिखने लगे। बाबू शिवप्रसाद गुप्त का दल जैसे दलदल में फँस गया हो। शिवप्रसादजी हैरान होकर मुझे देख लेते थे। उनके सेक्रेटरी बाबू अन्नपूर्णानंद मुझे देख-देखकर जैसे बहुत परेशान हो रहे हों।

मैंने स्वस्थ-चित्त हो महात्माजी से कहा—"बँगला मेरी वैसी ही मातृ-भाषा है, जैसी हिंदी। रवींद्रनाथ का पूरा साहित्य मैंने पढ़ा है। मैं आपसे आधा घंटा समय चाहता हूँ। कुछ चीज़ें चुनी हुई रवींद्रनाथ की सुनाऊँगा, नकी कला का विवेचन करूँगा, साथ कुछ हिंदी की चीजें सुनाऊँगा।"

महात्माजी—"मेरे पास समय नहीं है।"

मैं हैरान होकर हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति को देखता रहा, जो राजनीतिक रूप से देश के नेताओं को रास्ता बतलाता है, बेमतलब पहरों तकली चलाता है, प्रार्थना में मुर्दे गाने सुनता है, हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का सभापति है, लेकिन हिंदी के कवि को आधा घंटा वक़्त नहीं देता—अपरिणामदर्शी की तरह जो जी में आता है, खुली सभा में कह जाता है, सामने बगलें झाँकता है !

मैंने अपना उल्लिखित मनोभाव दबा लिया। नम्र होकर कहा—"महात्माजी, मेरी चीज़ों की आम जनता में क़द्र नहीं हुई। इसकी वजह है। आप अगर कुछ सुन लेते, तो मुमकिन, अच्छा होता।"

महात्माजी—"आप अपनी किताबें मेरे पास भेज दीजिएगा।"

जैसे किसी ने चाँटा मारा। अब किसी की आलोचना से, किसी की तारीफ़ से आगे आने की अपेक्षा मुझे नहीं रही। मैं खुद तमाम मुश्किलों को झेलता हुआ, अड़चनों को पार करता हुआ, सामने आ चुका हूँ।

मैंने मज़ाक़ में कहा—"आप अपने यहाँ के हिंदी के जानकारों के नाम बतलाइए, जो मेरी किताबों पर राय देंगे। आपको हिंदी अच्छी नहीं आती, आप कह ही चुके हैं।" कहकर मैं हँसा।

महात्माजी भी खूब खुलकर हँसे।

मैंने कहा—"एक हैं पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, विशाल भारत के संपादक, पत्र के साथ जिनका नाम शायद आपने दो बार लिया है। यह कुछ दिन रहे हैं आपके पास और कुछ दिन रवींद्रनाथ के यहाँ। विशाल भारत के संपादक के लिये यही उनकी सबसे बड़ी योग्यता ठहरी !"

महात्मा गांधी—"हाँ।"

मैं—"अगर मैं भूलता नहीं तो, कवि श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त के साकेत की भाषा को आपने मुश्किल कहा।"

महात्माजी—"हाँ।"

मैं—"फिर मेरे तुलसीदास की भाषा का क्या हाल होगा ?"

महात्माजी कुछ दुचित्ते-से हुए। तुलसीदास के नाम पर मुमकिन, भ्रम हुआ हो, मैं तुलसीदास की भाषा का ज़िक्र कर रहा हूँ।

अब तक बीस मिनट पूरे हो चुके थे। महात्माजी मौन हो गए। मैंने कहा—"महात्माजी, अगर वक़्त हो गया हो, तो मैं प्रणाम कर बिदा होऊँ ?"

महात्माजी ने कहा—"हाँ, मैं तो पहले ही कह चुका हूँ।"

उठकर, मैंने हाथ जोड़कर प्रणाम किया, और शिवप्रसादजी से फिर दर्शन करने के लिये कहकर बाहर निकला।

घर आने पर महात्माजी की रायवाली बात पर मुझे एक लोकोक्ति याद आई। सोचा, इस लोकोक्ति से महात्माजी को पत्र लिखूँ। लोकोक्ति यह है—

किसी महाजन के एक घोड़ा था। वह उसकी बड़ी देख-भाल रखते थे। एक दिन उनके किसी पड़ोसी को कहीं जाना था। वह महाजन के यहाँ गए, और कहा—"सवारी के लिये मुझे आप अपना घोड़ा दे दीजिए।"

महाजन ने कहा—"घोड़ा नहीं है।"

पड़ोसी को विश्वास न हुआ। वह वहीं खड़े रहे। कुछ देर बाद घोड़ा हिनहिनाया। पड़ोसी ने कहा—"आप कहते थे, घोड़ा नहीं है, घोड़ा तो है।"

महाजन ने कहा—"तुम हमारी आवाज नहीं समझे, घोड़े की आवाज समझे।"

पत्र में मैं इतना और लिखता—"महात्माजी, मैं आप ही की आवाज़ पहचान गया। किताब भेजकर आपके घोड़े की आवाज़ नहीं पहचानना चाहता।"

कवि सियारामशरणजी को अपने पत्र का मजमून सुनाया, तो उन्होंने कहा—"महात्माजी का स्वास्थ्य आजकल अच्छा नहीं है, आप ऐसा न लिखें।"

★

"बापू तुम मुर्गी खाते यदि !
तो क्या भजते होते तुमको
ऐरे - ग़ैरे, नत्थू - खैरे;

सर के बल खड़े हुए होते
हिंदी के इतने लेखक-कवि ?
तो लोकमान्य से क्या तुमने
लोहा भी कभी लिया होता,
दक्खिन में हिंदी चलवाकर
लखते हिंदुस्तानी की छवि ?
बापू तुम मुर्गी खाते यदि ।"

*

एक बार कलकत्ता-विद्यासागर-कॉलेज से न्योता मिला । चीफ़ गेस्ट की हैसियत से बुलाया । कलकत्ता मुझे प्रिय है, जो भी वजह हो; विद्यासागर-कॉलेज और भी प्रिय । इसके विद्यार्थी जो उन दिनों मेरे बाजू बचानेवाले थे, अब बड़े-बूढ़े हो चले होंगे, तरह-तरह की झंझटों में फँसे हुए या एक के बाद दूसरा सब्ज़ बाग खिलाते हुए मेरे पास काफ़ी आ चुके । जिन विद्यार्थियों ने मुझे बुलाया, उनमें मैंने पुराने विद्यार्थियों के मुँह देखे, और मुझ पर भी एक पानी बीती जवानी का जैसे चढ़ आया । जवानी से प्यारी दूसरी चीज मैं नहीं समझ पाया । प्रौढ़ता में भी उसी का दौरा रह-रहकर रंग चढ़ा जाता है ।

देहरा-एक्सप्रेस से रवाना हुआ, लखनऊ-स्टेशन से । इंटर का टिकट । जाड़े के दिन । पंजाबी कुर्ते पर पूरी बाँहवाली रुई की बंडी पहने हुए । जगह की तलाश में डिब्बे देख रहा था कि एक साथ लखनऊ के परिचित बहुत से एम्० एल० ए० देख पड़े । मैंने सोचा, कोई आ-जा रहे होंगे । ज्यादा ध्यान नहीं दिया । एक कमरा खाली देखकर उसमें बैठा । गाड़ी चल दी ।

बाराबंकी पार कर फ़ैज़ाबाद की हद में गाड़ी पहुँची, तो किसी-किसी स्टेशन पर तिरंगा झंडा लिए झुंड-के-झुंड गँवैए लोग 'महात्मा गांधी की जय', जवाहरलाल नेहरू की जय' बोलते हुए, एक खास डिब्बे की तरफ़ फूल फेंकते, माला पहनाते हुए नजर आए । मैं समझा, कोई बड़े नेता इस गाड़ी से जा रहे हैं । फ़ैज़ाबाद स्टेशन पर भी ऐसी ही भीड़ थी । उतरकर

मैंने देखा, एक ड्योढ़े दर्जे के दरवाज़े पर पंडित जवाहरलाल नेहरू खड़े हुए हैं, और स्टेशन और गाड़ी की छत पर आते-जाते हुए बंदरों को देख रहे हैं। गाड़ी की छत पर बैठे बंदरों के बारे में उन्होंने पूछा—"क्या ये इसी तरह यहाँ से अयोध्या तक जाते हैं ?"

बंदरोंवाली बात का व्यंग्य मुझे बड़ा अच्छा लगा। देखा, जवाहरलालजी ड्योढ़े दर्जे में ही थे। मैंने जवाहरलालजी से कभी बातचीत नहीं की। उनके ऐसे प्रसंग हिंदी-साहित्य के बारे में बहुत-से उठे हैं, जिनके लिये अखबारों में लिखा-पढ़ी या मिलकर उनसे बातचीत की जाय, लेकिन चुप रहकर जो कुछ लिखते बने, लिखना ज्यादा अच्छा लगा। इस वक़्त लोभ न सँभाला गया। मैं डिब्बे के भीतर चला। पंडितजी ज़रा बग़ल हो गए। फिर उसी तरह दरवाज़े पर खड़े हो गए गाड़ी छूटने तक स्वागत के लिये सम्मान में खड़े रहने के इरादे से, उन्हें बिदा करने के लिये।

भीतर डिब्बे में आर० एस्० पंडित महाशय थे, चढ़े फूलों से खेलते हुए। एक और सज्जन गंभीर भाव से बैठे थे। मुमकिन, पंडितजी के सिकत्तर रहे हों। मैं एक बर्थ पर एक बग़ल बैठ गया। वह पूरी खाली थी। गाड़ी छूटने पर नमस्कार करते हुए लोगों को नमस्कार करते हुए बिदा कर पंडित जवाहरलालजी उसी बर्थ पर आकर बैठे। एक मिनट तक वह मुझे देखते रहे। मैं चुपचाप बैठा रहा। मेरे सिर पर एक टोप था, जिसे मंकी-कैप कहते हैं। बचपन में ऐसे पहनावे से मुझे भी हँसी आती थी। मुझे मोहम्मद साहब की बात याद आई—"पहाड़ मेरे पास नहीं आता, तो मैं पहाड़ के पास जाऊँगा !"

पंडितजी की तरफ़ मुँह करके मैंने कहा—"आपसे कुछ बातें करने की ग़रज से अपनी जगह से यहाँ आया हुआ हूँ।"

पंडितजी ने सिर्फ़ मेरी तरफ़ देखा। मुझे मालूम दिया, निगाह में प्रश्न है—'तुम कौन हो ?' मालूम कर, अखबारों में और हिंदी के इतिहासों में आई तारीफ़ का उल्लेख नाम के साथ करते हुए मैंने कहा—"यह सिर्फ थोड़ी-सी जानकारी के लिये कह रहा हूँ। प्रसिद्धि के विचार से आप ख़ुद समझेंगे कि मैं जानता हूँ, मैं किनसे बातें कर रहा हूँ।"

पंडितजी मेरी बात से जैसे बहुत खुश हुए। मैंने कहा—"इधर हिंदुस्तानी के संबंध में आपके विचार देखकर आपसे बातें करने की इच्छा हुई। आप उच्च-शिक्षित हैं। हर तरह की शिक्षा की परिणति उच्चता है, न कि साधारणता। आपका देशव्यापी और विश्वव्यापी बड़प्पन भी उच्चता ही है।

भाषा-जन्य बहुत-सी कठिनाइयाँ सामने हैं, जो हिंदुस्तानी ज़बान को मद्दे नज़र रखते हुए दूर नहीं की जा सकतीं। भाषा जब साहित्य का रूप पाती है, तब वह दोनो को लिए हुए चलती है। आप अधिकांश जनों को खुश करने के लिये हिंदुस्तानी ज़बान का प्रचार करें, यह और बात है, लेकिन भाषा गत और भावगत चारुता के उदाहरण उपस्थित करते हुए उनका हिन्दुस्तानी रूप कैसा होगा, अगर आपसे पूछा जाय, तो क्या आप बता सकेंगे ?"

पंडितजी देखते रहे।

मैंने अपना भाव और सीधे शब्दों में स्पष्ट किया—"मैं हिंदी के कुछ वाक्य आपको दूँगा, जिनका अनुवाद आप हिंदुस्तानी ज़बान में कर देंगे, मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ। इस वक़्त आपको समय नहीं"—पंडितजी युक्त-प्रांतीय राजनीतिक सम्मेलन का सभापतित्व करने जा रहे थे, अगला स्टेशन अयोध्या-स्टेशन था—"अगर इलाहाबाद में आप मुझे आज्ञा करें, तो किसी वक़्त मिलकर मैं आपसे उन पंक्तियों के अनुवाद के लिये निवेदन करूँ।"

पंडितजी बहुत उलझे हैं, उन्हें फ़ुरसत नहीं, कुछ ऐसा भाव संकोच के साथ जाहिर करने लगे। मुझे हँसी आ गई। मुस्किराते हुए मैंने कहा—"पंडितजी, हम लोगों ने भी कुछ विचार लड़ाए हैं हिंदुस्तानी की कामयाबी के बारे में, और इस सिद्धांत पर पहुँचे हैं कि जीवन के साधारण महकमे तक ही उसकी पहुँच है। मैं राजनीति की बातें नहीं करता, साहित्य की बातें करता हूँ। राजनीति में भी, बिना अँगरेज़ी, संस्कृत, अरबी या फ़ारसी के सहारे के, वह लँगड़ी होगी।"

जवाहरलालजी गंभीर सारल्य से मेरी ओर देखने लगे। उनका बोलने का इरादा नहीं समझकर मैंने सोचा, दूसरा प्रसंग छेड़ूँ। कहा—

"हमारा समाज भी तैयार नहीं।" कहने के साथ समाजवादी पं० जवाहरलाल ने ज़रा गरदन ऊँची की। मैं कहता गया—"जिस समाज में हमारा जन-समूह है, वह पुराना समाज है, पुरानी रूढ़ियों का गुलाम। नए विचार, नए परिवर्तन, नया उत्कर्ष जब तक नहीं होता, अच्छे नाटक और उपन्यास लिखे नहीं जा सकेंगे।"

"क्यों-क्यों?" अपनी स्वाभाविक तेज़ी से पंडितजी ने कहा—"रूस··· रूस में कैसे हुआ?"

मैं सोचने लगा—"पंडितजी के मुताल्लिक़ मेरी पहली धारणा सही है।" मुझे विचार करता देख पंडितजी ने सोचा, मैं शंकित हूँ, उनके निश्चय पर। बोले—"आज का रूस नहीं, पहले का।"

मैंने कहा—"जी हाँ, मैं समझा, आपका मतलब पुश्किन से टॉल्सटॉय तक है—प्रोग्रेसिव रूस से।"

पंडितजी ने कहा—"हाँ।"

मैंने पंडितजी को देखते हुए कहा—"लेकिन क्या हिंदुस्तान की दशा वैसी ही समझते हैं? संस्कृति, हिंदू-मुस्लिम-मनोवृत्तियाँ—क्या वैसे ही वर्ग-युद्ध से दुरुस्त होंगी।"

आर० एस० पंडित मेरी बात से बढ़े। मैंने कहा—"यहाँ के ऐतिहासिक विवर्तन देखने पर मालूम देता है, यहाँ के मन की दूसरी परिस्थिति है। यहाँ सुधार ज्ञान से हुआ है। एक हिंदू-मुस्लिम-समस्या को ही लीजिए। मैं समझता हूँ, इसका हल हिंदी के नए साहित्य में जितना सही पाया जायगा, राजनीतिक साहित्य में नहीं। इसका कारण है, राजनीति प्रभावित है पश्चिम से; साहित्य मौलिकता से पनपा है। ब्रह्म···"

पंडितजी—"ब्रह्म क्या?"

"ब्रह्म शब्द से नफ़रत की कोई बात नहीं हो सकती। ब्रह्म का मतलब सिर्फ़ बड़ा है, जिससे बड़ा और नहीं। किसी को ब्रह्म देखने के अर्थ हैं, उसके भौतिक रूप में ही नहीं—सूक्ष्मतम आध्यामिक, दार्शनिक, बृहत्तर रूप में भी देखनेवाले की दृष्टि प्रसारित है। पंडितजी, मैं अगर आपको ब्रह्म देखूँ, तो आप मेरी दृष्टि में बड़े होंगे या बृहत्तर दफ़ा नेशनल कांग्रेस प्रिज़ाइड करने पर?"

पंडितजी चुप। आर० एस० पंडित गौर से मुझे देखते हुए।

मैं कहता गया—"यही दृष्टि जरूरी है। यही दृष्टि पतित का सार्वभौम सुधार कर सकती है। गुलाम की बेड़ियाँ काट सकती है। हिंदू-मुस्लिम को मिला सकती है—यह निगाह आज तक की तमाम रूढ़ियों से जुदा है। इस निगाह में भिन्न मतों का लगा जंक नहीं—जो जंक इधर लगा है, जो मत इधर चले हैं; यह निगाह पूरब और पच्छिम को अच्छी तरह पहचानती है; यह निगाह ब्राह्मण और शूद्र नहीं मानती।"

पंडितजी केवल देखते रहे। मुझे एकाएक उनकी आत्मकथा की याद आई। साथ ही उसका वह अंश, जिसे लेकर कुछ साल पहले हिंदी में लिखा-पढ़ी हो चुकी थी; यानी 'प्रसाद'जी, प्रेमचंदजी, रामचंद्रजी शुक्ल वग़ैरा काशी के सुप्रसिद्ध साहित्यिकों ने काशी में पंडितजी को बुलाकर सम्मानित किया था। उस अवसर पर पंडितजी ने कहा था—"हिंदी में दरबारी ढंग की कविता प्रचलित है।"

मैंने कहा—"पंडितजी, यह मामूली अफ़सोस की बात नहीं कि आप-जैसे सुप्रसिद्ध व्यक्ति, इस प्रांत में होते हुए भी, इस प्रांत की मुख्य भाषा हिंदी से प्राय: अनभिज्ञ हैं। किसी दूसरे प्रांत का राजनीतिक व्यक्ति ऐसा नहीं। १९२० के लगभग श्रीसुभाष बोस ने लाहौर के विद्यार्थियों के बीच भाषण करते हुए कहा था—'बंगाल के कवि पंजाब के वीरों के चरित्र गाते हैं। उन्हें अपनी भाषा का ज्ञान और गर्व है।' महात्मा गांधी के लिये कहा जाता है कि गुजराती को उन्होंने नया जीवन दिया है। रवींद्रनाथ ठाकुर बँगला का अनुवाद अँगरेज़ी में देते हैं। हमारे यहाँ आपकी तरह के व्यक्ति होते हुए भी साहित्य में नहीं हैं। हिंदी, मैं दावे के साथ कह सकता हूँ, अब पद्य-साहित्य में बड़ी-से-बड़ी ज़बानों का मुक़ाबिला करती है—अपने ब्रज-भाषा-साहित्य में तो वह लासानी है।

"बनारस के जिन साहित्यिकों की मंडली में आपने दरबारी कवियों का उल्लेख किया था, उनमें से तीन को मैं जानता हूँ। तीनो अपने-अपने विषय के हिंदी के प्रवर्तक हैं। 'प्रसाद'जी काव्य और नाटक-साहित्य के, प्रेमचंदजी कथा-साहित्य के और रामचंद्रजी शुक्ल आलोचना-साहित्य के। आप ही समझिए कि इनके बीच आपका दरबारी कवियों का उल्लेख

कितना हास्यास्पद हो सकता है ! इन्होंने आपके सम्मान के लिये आपको बुलाया था, इसलिये आपके विरोध में कुछ नहीं कहा। आप जिस दरबारीपन का उल्लेख कर चुके हैं, वह हिंदी-साहित्य से बीसियों साल से दूर है। खड़ी बोली की प्रतिष्ठा के बाद जो काव्य मैदान में पैर रखता और आगे बढ़ता है, उसके साथ दरबारीपन का कोई संबंध नहीं।

"आज बँगला को छोड़कर शायद ही दूसरी भाषा खड़ी बोली के उस काव्य से हाथ मिला सके। उसके प्रसार, कल्पना, उदारता आदि के कारण उसमें अँगरेज़ी के छंद तो हैं ही, अँगरेज़ी का 'वर्स-लिब्रे' (मुक्त छंद) तक मौजूद है। उर्दू ये चीजें अभी दे नहीं सकती, तब भी उसे इक़बाल पैदा करने का गर्व है। अगर हिंदी की सच्ची जानकारी—उसकी कमज़ोरी और शहज़ोरी, दोनो की—आपको होती, अगर आप भी हिंदी के साहित्यिकों में एक शुमार किए जाते, तो उस भाषा को कितना बड़ा बल प्राप्त होता। एक तो हिंदी के साहित्यिक साधारण श्रेणी के लोग हैं, एक हाथ से वार झेलते, दूसरे से लिखते हुए; दूसरे आप-जैसे बड़े-बड़े व्यक्तियों को मैदान में वे मुखालिफ़त करते देखते हैं।

"अगर आप या आपकी तरह के व्यक्ति एक भिन्न दृष्टिकोण लेकर दूसरे तौर-तरीक़े अख़्तियार करते हुए आवाज उठाएँ, तो स्वभावत: बीसियों साल की मारें सहकर एक चीज तैयार करनेवाले आदमी जनता को साथ लेने की जगह उनके हाथ से छूट जाते हैं। जनता समझती है कि उसकी तरफ़दारी करनेवाले आप उसके सच्चे साहित्यिक हैं, और बीस साल से साहित्य के मैदान में आया हुआ साहित्यिक उसका ग़ैर।

"हमने जब काम शुरू किया था, हमारी मुखालिफ़त हुई थी; अब जब हम कुछ प्रतिष्ठित हुए, अपने विरोधियों से लड़ते, साहित्य की सृष्टि करते हुए, तब किन्हीं मानों में आपको मुखालिफ़त करते देखते हैं। यह कम दुर्भाग्य की बात नहीं साहित्य और साहित्यिक के लिये।

"हमने जो नया पौधा लगाया, उसे हवा-पानी, जाड़े और ओले से बचाया, वह अब, कलियाँ लेते वक्त, ऊँटों और हाथियों के झुंड से घिर रहा है।

"जनता की ज़बान, जो आज जनता की ज़बान कहलाती है, वह हज़ार

साल पहले जनता की ज़बान न थी। फिर हज़ार साल बाद भी शायद न रहेगी। जो व्रज-भाषा एक वक्त तमाम देश की ज़बान थी, तमाम देश के लोग उस भाषा में बातें नहीं करते थे। आज भी प्रांत-प्रांत, यहाँ तक कि जिले-जिले के हिंदी-भाषा-भाषी की ज़बान भी जुदा-जुदा है। अगर कोई नई ज़बान तैयार की जायगी, और उसी से डंके पर चोटें पड़ती रहेंगी, तो खुद-ब-खुद इस तैयार ज़बान को धक्का पहुँचेगा!

"अभी तक व्रज-भाषा की ही पढ़ाई अधिक थी। खड़ी बोली में भी पुरानी परिपाटी के लोग ही ज्यादातर पढ़ाए जाते थे। हम वार झेलते हुए सामने आए ही थे कि आपका वार हुआ। हम जानते हैं, हिंदी लिखने के लिये क़लम हाथ में लेने पर, बिना हमारे कहे फैसला हो जायगा कि बड़े-से-बड़ा प्रसिद्ध राजनीतिक एक जानकार साहित्यिक के मुक़ाबले कितने पानी में ठहरता है! लेकिन यह तो बताइए, जहाँ सुभाष बाबू, अगर मैं भूलता नहीं, अपने सभापति के अभिभाषण में शरत्‌चंद्र के निधन का ज़िक्र करते हैं, वहाँ क्या वजह है, जो आपकी ज़बान पर 'प्रसाद' का नाम नहीं आता?.........मैं समझता हूँ, आपसे छोटे नेता भी सुभाष बाबू के जोड़ के शब्दों में, कांग्रेस में 'प्रसाद'जी पर शोक-प्रस्ताव पास नहीं कराते। क्या आप जानते हैं कि हिंदी के महत्त्व की दृष्टि से 'प्रसाद' कितने महान् हैं?"

जवाहरलाल एकटक मुझे देखते हुए।

मुझे प्रेमचंद की याद आई। मैंने कहा—"प्रेमचंदजी पर भी वैसा प्रस्ताव पास नहीं हुआ, जैसा शरत्‌चंद्र पर।"

पंडित जवाहरलालजी ने आग्रह-पूर्वक कहा—"नहीं, जहाँ तक मुझे स्मरण है, प्रेमचंदजी पर तो एक शोक-प्रस्ताव पास किया गया था।"

मैंने कहा—"जी हाँ, यह मैं जानता हूँ, लेकिन उसकी वैसी महत्ता नहीं, जैसी शरत्‌चंद्रवाले की है।"

इसी समय अयोध्या-स्टेशन आ गया। मैंने कहा—"पंडितजी, अगर मौक़ा मिला, तो आपसे मिलकर फिर साहित्यिक प्रश्न निवेदित करूँगा।"

मैं उठा, पंडित जवाहरलाल कुछ ताज्जुब से जैसे मेरा आकार-प्रकार देखने लगे, फिर जैसे कुछ सोचने लगे। मैंने कहा—"पंडितजी!" आवाज़

गंभीर, भ्रम समझनेवाले के लिये कुछ हेकड़ी-सी लिए हुए। जवाहरलाल ने दृप्त होकर देखा। मेरी निगाह आर०एस० पंडित की तरफ़ थी। उन्होंने निगाह उठाई। मैं नमस्कार कर, दरवाज़ा खोल, बाहर निकल आया।

*

एक रोज़ एक सम्मेलन में सेन गुप्त महाशय बोले। भाषण ग़रूर से भरा हुआ, बंगाल की उच्चता से अहंकृत। मैंने एक स्लिप लिखकर सम्मेलन के अधिकारियों से पाँच मिनट का समय माँगा। वैसी अशिष्ट वक्तृता के जवाब के लिये, लेकिन मुझे पाँच मिनट का वक्त भी नहीं दिया गया। उन्होंने किसी सभ्यता के खयाल से मुझे नहीं रोका, बल्कि डर से रोका। मैं स्पष्ट रूप से समझा कि हिंदी कुछ असाहित्यिकों के हाथों की कठ-पुतली है—वह भक्तों के हृदय की सप्राण देवी नहीं, लेकिन इसका जवाब मैंने दिया बंगीय साहित्य-परिषद् में।

बंगीय साहित्य-परिषद विरोधी प्लेटफ़ार्म नहीं था। मैं मंच पर गया। मेरे मंच पर चढ़ने के साथ ही डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने ऊँचे शब्दों में मेरी तारीफ़ की। टंडनजी भाषण देनेवाले सज्जनों के नाम लिख रहे थे। वक्त कम था। टंडनजी ने दो ही नाम निश्चित किए थे। मुझे इनमें से किसी का विश्वास नहीं हुआ कि हिंदी की साहित्यिक मर्यादा साहित्यिकता के द्वारा रक्खेंगे।

मैंने अपना नाम टंडनजी से लिख लेने के लिये कहा। उन्होंने पहले कुछ इन्कार किया कि समय नहीं, लेकिन मेरे आग्रह करने पर लिख दिया, और पंद्रह मिनट का वक्त दिया। मैंने आज की बँगला में प्राचीन हिंदी और नवीन बँगला पर वक्तृता की। उसी समय एक बंगाली महाशय ने हिंदी के विद्वानों को संबोधित करते हुए कहा कि ऐसी विशुद्ध बँगला किसी भिन्न भाषा-भाषी के कंठ से हम लोगों ने नहीं सुनी।

अवांतर

हो गया व्यर्थ जीवन;
मैं रण में गया हार !
सोचा न कभी—
अपने भविष्य की रचना में चल रहे सभी ।

सोचा—"मैं भी होता
यदि राजपुत्र—मैं क्यों न सदा कलंक ढोता,
ये होते जितने विद्याधर मेरे अनुचर,
मेरे प्रसाद के लिये विनत-शिर, उद्यत-कर ;
मैं देता कुछ रख अधिक, किंतु जितने पेपर
सम्मिलित कंठ से गाते मेरी कीर्ति अमर,
जीवन-चरित्र
लिख अग्रलेख अथवा छापते विशाल चित्र ।

इतना भी नहीं, लक्षपति का भी यदि कुमार
होता मैं, शिक्षा पाता अरब-समुद्र-पार,
देश की नीति के मेरे पिता परम पंडित
एकाधिकार रखते भी धन पर, अविचल-चित
होते उग्रतर साम्यवादी, करते प्रचार,
चुनती जनता राष्ट्रपति उन्हें ही सुनिर्धार,
पैसे में दस राष्ट्रीय गीत रचकर उन पर
कुछ लोग बेचते गा-गा गर्दभ-मर्दन-स्वर,

हिंदी-सम्मेलन भी न कभी पीछे को पग
रखता कि अटल साहित्य कहीं यह हो डगमग,
मैं पाता खबर तार से त्वरित समुद्र-पार,
लार्ड के लाड़लों को देता दावत, विहार;
इस तरह खर्च केवल सहस्र-षट् मास-मास
पूरा कर आता लौट योग्य निज पिता-पास
वायुयान से, भारत पर रखता चरण-कमल,
पत्रों के प्रतिनिधि-दल में मच जाती हलचल,
दौड़ते सभी, कैमरा हाथ, कहते सत्वर
निज अभिप्राय, मैं सभ्य मान जाता झुककर;
होता फिर खड़ा इधर को मुख कर, कभी उधर,
बीसियों भाव की दृष्टि सतत नीचे - ऊपर;
फिर देता दृढ़ संदेश देश को मर्मांतिक,
भाषा के विना न रहता अन्य भाव प्रांतिक।
जितने रूस के भाव, मैं कह जाता अस्थिर,
समझते विचक्षण ही, जब वे छपते फिर-फिर;
फिर पिता-संग
जनता की सेवा का व्रत मैं लेता अभंग,
करता प्रचार
मंच पर खड़ा हो, साम्यवाद इतना उदार !

छायावाद की
विद्रोहात्मक काव्य-धारा में !

एक साथ जब शत घात-पूर्ण
आते थे मुझ पर तुले तूर्ण ।
देखता रहा मैं खड़ा अपल
वह शर - क्षेप, वह रण - कौशल ।
व्यक्त हो चुका चीत्कारोत्काल,
क्रुद्ध युद्ध का रुद्ध कंठ - फल !

खड़ी बोली की प्रथम कविता की स्वर्ण लंका को छायावाद के मलिनत्व के स्पर्श से बचाने के लिये सरस्वती के सुकवि किंकर महाशय ने छायावाद के कवियों की लांगूलों में आग लगा दी । वे कवि उनके सुदृढ़ गढ़ के कँगूरे ढहाते थे । कर्ण-कटु शब्दों से उनको हैरान करते थे, और सोते समय उनकी नासिका के छिद्र में लांगूल करके उन्हें जगा देते थे ।

★

छायावादियों में 'प्रसाद'जी का घोड़ा तेज जा रहा था । दिक्कत सिर्फ़ एक थी—घोड़ा नाज़ुक था, 'प्रसाद'जी स्थूल ! पंत महादेवजी सेठ को लिखनेवाले थे—'अपना पुराना मोटो बदल दीजिए—तुंग हिमालय-शैल-शृंग' 'मुझे लिखिए, चंचल गति सुर-सरिता निराला को । उग्र की प्रतिभा का गैस उड़ गया था । वह लाला भगवानदीन के पास गए थे कि पंप करके फिर साहित्य-संसार में छोड़ दें । कृष्णदेवप्रसाद ने बहुत सोच-समझकर

'प्रसाद'-प्रशंसा की सोल एजेंसी ले ली थी, पर अभी तक विशेष फ़ायदा नहीं हुआ था।

*

काशी हिंदी के सभी वादों की भूमि है। 'प्रसाद' काशी के ही हैं। उनके युवक पाठक शिष्य अनेक शास्त्रियों को बना चुके थे। एक दिन पूछने पर एक ने कहा—"छायावाद का अर्थ है शिष्टतावाद, छायावादी का अर्थ है—सुंदर, साफ़ वस्त्र और शिष्ट भाषा धारण करनेवाला······जो छायावादी नहीं, वह काशी के शास्त्रियों की तरह अँगौछा पहननेवाला है या नंगा। छायावाद वह है, जिसमें कला के साथ व्यभिचार किया जाता है—तरह-तरह से।"

*

उन दिनों छायावाद का बोलबाला था, खास तौर से इलाहाबाद में। लड़के पंत के नाम की माला जपते थे—ध्यान लगाए। कितनी लड़ाइयाँ लड़ीं—'प्रसाद', पंत और माखनलाल के विवेचन में। भगवतीचरण बायरन से आगे हैं, पीछे रामकुमार कितनी ताक़त से सामने आते हुए। महादेवी कितना खींचती हैं।

पद्मसिंह शर्मा ने छायावाद पर जो लिखा, उसे पढ़कर एक देहाती कहावत याद आ गई—किसी लड़के ने अपने पिता से कहा—"बाबूजी, मैं भी फफीम खाऊँगा।" पिता ने जवाब दिया—"बेटा, पहले नाम सीख लो, फिर फफीम खाना।"

आचार्य पं० रामचंद्रजी शुक्ल छायावाद की कविता और उनके कवियों का मज़ाक़ उड़ाते थे। साहित्य में इस प्रकार की आवाज प्रचारादि यद्यपि असभ्यता और गँवरपन का परिचय था, परंतु हमारे लिये इसको स्वीकार करने के सिवा दूसरा उपाय क्या था? शुक्लजी गद्य में लिखते, हम उत्तर देने को तैयार थे। अवश्य पद्य में इस तरह की बकवास करना हम नहीं जानते थे।

*

फिर भी (शुक्लजी के प्रति) लिखा था—

"हमारे कॉलिज का बचुआ
नाक दबाकर संपुट साधै,
महादेवजी को आराधै,
भंग छानकर रोज़ रात को खाता मालपुवा !
हिंदी का लिक्खाड़ बड़ा वह,
जब देखो तब अड़ा पड़ा वह—
छायावाद - रहस्यवाद के भावों का बटुवा !

जोशी-बंधुओं के प्रत्युत्तर में लिखा था—

हम लोग न छायावाद जानते हैं, और न वमनवाद जानते हैं। एक दूसरा रूप कहता है—ऐसा नहीं, भैंसा जैसा। उसकी दो साँसें हैं, एक निःश्वास और दूसरा प्रश्वास, दोनो के बीच में न घॅडास और न फॅड़ास, अर्थात् न कविन्यास और न उपन्यास, बस, गतश्वास मौत ! यह मौत गधा भी जानता है, इसीलिये काँपता है, यानी मानता है।

एक बार मनसुखा के उत्तर में लिखा था—

'अरे अवस्थी(रामशंकर)जी ! आप और फ़िलॉसफ़ी ! आपको किसी बहाने मेरी ओर भूँकना था, सो भूँक चुके। इस तरह दूसरों को प्रसन्न कर सकते हों, तो कीजिए, पर मैं कहूँगा—कुछ काटना भी सीखिए। आपने अपने चुटीले शब्दों का भंडार बिलकुल खाली कर दिया है, और क़सूर मेरा कुछ भी नहीं, पर खैर, मैं मुर्ग़ियाँ नहीं हलाल करता फिरता। यहाँ इतना ही कहूँगा, वह (ग़ालिब-विषयक) लेख आप-जैसों के लिये नहीं लिखा गया था। मैं भैंस के आगे बीन नहीं बजाता। आप पर मैंने कई सफ़े रँग डाले थे, पर आप बेचारे ! मेरे अंतर के आईने में जितनी आग है, आपमें सहने की उतनी ताब है ?

★

अस्तु ! ईस्वी सन् १९२८ का शरत् काल !

गाँव में था, एकाएक श्रीनंददुलारे वाजपेयी का हिंदू-विश्वविद्यालय से पत्र मिला, हमारे यहाँ हिंदी-परिषद् में रहस्यवाद और छायावाद पर व्याख्यान दीजिए। श्रीनंददुलारे वाजपेयी इस परिषद् के उपसभापति,

पं० अयोध्यासिंह उपाध्यायजी सभापति और श्रीसोहनलाल द्विवेदी सेक्रेटरी थे। एक ही भाषण मैंने अब तक दिया था, विद्यासागर-कलिज, कलकत्ता में। सभापति महामना मालवीयजी थे। श्री जे० एल्० बैनर्जी के हिंदी-विरोधी धारा-प्रवाह अँगरेज़ी भाषण के जवाब में बोला था। पूज्य मालवीयजी, जन-मंडली तथा मित्रों से तारीफ़ पा चुका था, डर छूट चुका था। मैंने वाजपेयीजी का आमंत्रण स्वीकार कर लिया।

इन दिनों छायावाद की ज़ोरों से मुख़ालिफ़त थी। छायावाद इने-गिने साहित्यिकों का प्रयत्न था। हिंदू-विश्वविद्यालय के छात्र, अध्यापक तथा काशी के साहित्यिक इस व्याख्यान के सुनने के लिये बड़े उत्सुक हुए। हर निगाह में मुझे आग्रह दिखा। काशी चलकर मैं वाजपेयीजी के यहाँ ठहरा। वाजपेयीजी आर्य-भवन में रहते थे। पहले दो-एक बार उन्हें देख चुका था, ख़त-किताबत जारी हो चुकी थी, अब नज़दीक से अच्छी तरह देखने का मौक़ा मिला। आर्य-भवन हिंदू-विश्वविद्यालय के बड़े-बड़े छात्रावासों से दूर, एकांत में, है। हरियाली के बीच में एक तरफ़ अमरूदों का बग़ीचा, एक तरफ़ खेत, जो उस समय बाजरे से लहरा रहा था। सामने, कुछ ही दूर चलने पर, सड़क, आगे महिलाओं का छात्रावास। वाजपेयीजी उस समय एम्० ए० फ़ाइनल में थे। और भी कई लड़के आर्य-भवन में रहते थे। दूसरे खुले दिलवाले लड़कों से मालूम हुआ, आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल छायावाद की कविता और उनके कवियों का मज़ाक़ उड़ाते हैं, यह विद्यार्थियों को पसंद नहीं, इसके जवाब में यह व्याख्यान का ठाट बाँधा गया है, शुक्लजी को वे ख़ास तौर से इसका प्रतिपादन सुनाना चाहते हैं। लड़कों की मंडली में ख़ूब ताश खेले। कभी-कभी छः-छः घंटे पार कर दिए। दो-तीन रोज़ पहले गया था। 'प्रसाद'जी से मिला। उन्होंने व्याख्यान के दिन मुझे अपने यहाँ ले चलने के लिये वाजपेयीजी से कहा। बात तय हो गई। मैं 'प्रसाद'जी के यहाँ चला आया। 'प्रसाद'जी ने राय कृष्णदासजी की मोटर मँगा ली, और अपनी मंडली लेकर यथासमय चले। उस दिन उन्होंने इत्र से मुझे ख़ूब सुवासित किया। मैंने व्याख्यान के नोट लिख लिए, जो ऐन वक़्त पर काम न दे सके, क्योंकि मैं भाव में ऐसा डूबा था कि काग़ज़ पर निगाह डालता था, तो कुछ दिखाई न पड़ता था।

अ श्री उपस्थिति थी । पूज्य उपाध्यायजी सभापति के आसन पर समासी । थे, वाजपेयी और सोहनलालजी कारवाई में उनकी मदद कर रहे थे छात्र-छात्राओं की अच्छी संख्या थी । सिर्फ़ पं० रामचंद्र शुक्ल न आए थे मेरा भाषण लड़कों को पसंद आया । मैं उसे साधारण रूप से सफल हु वक्तृता समझता हूँ । मुझे याद है, जब भी बोलते वक़्त सभा की स ाजिकता का ख़याल न था, मैंने कहा था, तीसरे दर्जे का विद्यार्थी एम्० ए का कोर्स क्या समझेगा ? रहस्यवाद और छायावाद की मूल धाराओं व समझने के लिये अध्ययन और मनन की आवश्यकता है—यह काव्य व ज्ञान-कांड है । इस बात से उपाध्यायजी नाराज़ हो गए, और भाषण बे बीच में आवश्यक कार्य की आड़ लेकर चले गए । उनके जाने पर वाजदे ोजी सभापति के आसन पर बैठे । वाजपेयीजी ने अपने भाषण में छ यावाद को विद्रोहात्मक काव्य-धारा बताया, और नूतनतर उत्थान के र में उसकी व्याख्या की, जो विद्यार्थियों को पसंद आई । सभा भले- से समाप्त हुई ।

*

छायावाद के प्राचीन विरोधियों से लड़कर यदि मैंने छुट्टी पाई, तो म्मेलन (हिंदी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग) ने मेरे नए विरोधी तैयार किए । वश्य जान-बूझकर सम्मेलन ने मेरे विरोधी तैयार नहीं किए, लेकिन जहाँ म्मेलन का यह अज्ञान था, वहाँ मैं ज्ञान-पूर्वक सम्मेलन से असहयोग रता रहा ।

एक साल मेरे मित्र, पं० नंददुलारे वाजपेयीजी सम्मेलन की अंतिम त्तमा परीक्षा के परीक्षक थे, समालोचना के । एक बार परीक्षा की ॉपियाँ देखकर सम्मेलन में जमा करने के लिये आए, इलाहाबाद । मैं हीं था । वहीं ठहरे । मैंने पुलिंदा देखा, तो सोचा कि कोई किताब लिखी है । खोलकर देखा, तो उत्तमा परीक्षा की कॉपियाँ निकलीं । पढ़ने लगा । बड़ा मज़ा आया, सम्मेलन की उत्तमा परीक्षा के परीक्षार्थियों की मूर्खता पढ़-पढ़कर । एक प्रश्न था, "प्राचीन रहस्यवाद से आधुनिक छायावाद की तुलना कीजिए ।" उत्तर में किसी-किसी विद्यार्थी ने ऐसा भी लिखा था—

"कहाँ कबीर का रहस्यवाद और कहाँ आधुनिक छायावाद ! यह प्रश्न ही वाहियात है ।"

सम्मेलन की यह दुर्दशा, हिंदी (छायावादी कविता) की इस हेठी, साहित्यिकों के इस अपमान और प्रभावित अपरिणामदर्शी राजनीतिकों के प्राधान्य के कारण मुझे क्षोभ हुआ ।

*

प्रशंसा की बात जब-जब, जहाँ-जहाँ आई—मैंने टाल दिया । छिपकर रहने में कितनी शक्ति है—यह शायद मुझसे अधिक बहुत कम लोगों को मिली होगी ।

*

ज्यों-ज्यों मैं प्रसिद्धि की सच्ची साधना के विचार से अपने संबंध में चुप रहा, त्यों-त्यों उड़ने की शक्ति प्राप्त करते ही आलोचक शायरी की शमा के चारों ओर समा बाँधते रहे ।

मैं तारीफ़वाली बाहरी बातों में पहले से पीछे रहा, किताबों का गेटअप साधारण, तस्वीर नदारद, छपाई मामूली । मेरी तस्वीर तो मेरे साथवालों के बहुत बाद निकली है, वह भी वैसी भड़कीली नहीं, निकली भी पत्रिकाओं में, मेरी पुस्तकों में नहीं । पर हर तरह बचता हुआ मैं बदनामी में पहले रहा । लोगों ने अपना काँवला भूलकर मुझे पीला बतलाया है ।

इसके प्रतिकूल मुझे ऐसे मित्र भी मिले, जिन्होंने मेरी तारीफ़ की । इस स्तुति और निंदा के मार्ग से चलता हुआ वर्तमान काव्यालोचना का रूप वास्तव में पुच्छ-विषाण-हीन नहीं रह पाया । मैं जहाँ तक समझता हूँ, पहलेपहल मेरे मित्र हिंदी के मर्मज्ञ विद्वान् और आलोचक पं० नंददुलारेजी वाजपेयी ने वर्तमान कवियों की बृहत्त्रयी निकाली, भारत में एक लंबी आलोचना लिखी । उनकी आलोचना का दूसरी जगह उदाहरण किया गया । इसके बाद उनके इस पेड़ पर चढ़कर 'फल खात न बारा' बहुतों ने किया, कुछ ने नई बात पैदा की—श्रीमती महादेवीजी को जोड़-

कर वर्तमान काव्य के चारो पैर बराबर कर दिए। पं० बनारसीदासजी कब पीछे रहनेवाले थे ? उन्होंने नई सूझ पैदा की। खोज-खाजकर एक पूँछ की कसर पूरी कर दी, अब साबित कर रहे हैं कि काव्य के चतुष्पद-तत्त्वों में उनकी पूछ का ही महत्त्व सबसे ज्यादा है।

*

"बहु रस साहित्य विपुल यदि न पढ़ा,
मंद सबों ने कहा।
मेरा काव्यानुमान यदि न बढ़ा,
ज्ञान जहाँ का रहा,
रहे, समझ है मुझमें पूरी।"

सरस्वती राजनीति की दासी नहीं !

सुना, फ़ैज़ाबाद के प्रांतीय साहित्य-सम्मेलन में आचार्य रामचंद्र शुक्लजी, माननीय बाबू पुरुषोत्तमदासजी टंडन, माननीय संपूर्णानंदजी सभापति होकर आ रहे हैं। प्रांत की बात, जाने की उत्सुकता हुई। गया। और, सम्मेलन होने से पहले आदरणीय पं० श्रीनारायण चतुर्वेदीजी के यहाँ मैं ठहरा था—वहीं फैज़ाबाद में। वह सम्मेलन करने का निश्चय कर रहे थे—बहुत दिनों के मुर्दा सम्मेलन को जिलाने के लिये। मुझसे बातचीत की। सभापतियों का ज़िक्र आया। मैंने आचार्य शुक्ल को ही पूर्ण सम्मेलन का सभापति चुनने की राय दी। उस वक़्त बातचीत यही हुई थी कि अखिल भारतवर्षीय और हिंदी-साहित्य-सम्मेलन में प्राधान्य राजनीतिकों का हो रहा है। प्रांतीय सम्मेलन में साहित्यिकों की इज़्ज़त की जाएगी। लेकिन बाद को शुक्लजी सिर्फ साहित्य-शाखा के सभापति बनाए गए थे। पूर्ण सम्मेलन के सभापति चुने गए थे माननीय टंडनजी। मैंने कहा, मेरा व्यक्तिगत विरोध किसी से नहीं। टंडनजी के त्याग, सेवा और उच्च व्यक्तित्व को मैं आदर की दृष्टि से देखता हूँ। यद्यपि यहाँ भी हुआ राजनीतिकों का प्राधान्य मुझे खटका, पर मैं चतुर्वेदीजी से प्रतिश्रुत था। मैं गया।

बहिर्दृष्टि से सम्मेलन पूर्ण सफल रहा, लेकिन मेरी निगाह में वह एक प्रहसन था। उसे सभापतियों ने ही, राजनीतिक सभापतियों ने, प्रहसन बनाया। स्वागताध्यक्ष आचार्य नरेंद्रदेव थे। काफ़ी जनता थी। पर, अधिकांश स्कूल-मास्टर थे, जो आधुनिक कांग्रेस-सरकार के मातहत हैं।

माननीय संपूर्णानंद बोलने के लिये खड़े हुए। बोलना था कला-प्रदर्शनी पर, बोलने लगे कविता पर। कुछ देर तक संयत और शिष्ट भाव से कहते हुए माननीय संपूर्णानंद अंत में राजनीतिक आवेग में आ गए। बोले, "लेकिन कवियों को राजनीतिज्ञों का साथ देना है।" मुझसे न रहा गया। एक तो कला-प्रदर्शनी में कविता की चर्चा, फिर कवियों पर राजनीतिक प्रभाव। मैंने कहा—"हिंदी के कवि राजनीतिज्ञों से और आगे हैं।" माननीय संपूर्णानंद ने संयत भाव से अपनी वक्तृता समाप्त की। उनकी वक्तृता लिखी हुई न थी।

दूसरे दिन माननीय बाबू पुरुषोत्तमदासजी, सम्मेलन के सभापति, पधारे। साथ ही स्वागताध्यक्ष आचार्य नरेंद्रदेवजी, माननीय संपूर्णानंदजी और दो एक ऐसेंबली के सज्जन थे। आचार्य नरेंद्रदेवजी ने जनता को संबोधन कर कहा, अलिखित, यही उनका स्वागताध्यक्ष-पद से भाषण था, थोड़े शब्दों में—"आपके यहाँ दो-दो महापुरुष पधारे हुए हैं; एक हैं माननीय बाबू पुरुषोत्तमदासजी टंडन, दूसरे माननीय संपूर्णानंदजी।"

मेरे मन में बड़ी ग्लानि पैदा हुई—वहीं आचार्य रामचंद्र शुक्ल बैठे थे। अगर साहित्यिकों में अन्य कोई महापुरुष नहीं थे, तो साहित्य-विभाग के सभापति आचार्य रामचंद्र शुक्ल तो थे ही; लेकिन आचार्य नरेंद्रदेव ने उनका उल्लेख नहीं किया। उनकी निगाह में दो ही महापुरुष थे। राजनीतिक किस दृष्टि से साहित्यिक को देखता है! आचार्य शुक्लजी उम्र में भी टंडनजी से शायद ही छोटे होंगे। साहित्य में शुक्लजी की ख्याति हिंदी-भाषियों से छिपी नहीं, लेकिन उदार बननेवाले राजनीतिक ने अपने हृदय का भाव व्यक्त कर दिया।

पुरुषोत्तमदास टंडन सभापति के आसन पर विराजे। जनता ने अपने त्यागी नेता को साहित्य के उच्च आसन पर सुशोभित देखकर हर्ष-ध्वनि की। आदरणीय टंडनजी बोलने के लिये खड़े हुए। उन्होंने देर तक हिंद, हिंदू और हिंदी-शब्दों पर भाषण किया। टंडनजी ने बड़ी स्पष्टता से इन शब्दों का इतिहास लोगों को समझाया। टंडनजी के भाषण में इतना ही अंश सुनने लायक़—साहित्यिकों के सुनने लायक़—था।

भाषण टंडनजी का भी मौखिक था। साहित्य-सम्मेलन के सभापति

का भाषण मौखिक हो, यह किसी तरह भी क्षम्य नहीं हो सकता ! नेशनल कांग्रेस या प्रांतीय कांग्रेस या प्रांतीय कांग्रेस के सभापति का भाषण कभी मौखिक हुआ है, मुझे मालूम नहीं। यद्यपि फैज़ाबाद में वह अड़तालीस घंटे से कम नहीं रहे होंगे।

टंडनजी हिंदी-हिंदू के प्रसंग पर एक जगह कह रहे थे—"सूर और तुलसी ने इन शब्दों के प्रयोग नहीं किए।" मुझे कबीर की याद आई। मैंने कहा—"कबीर ने किया है।" टंडनजी कुछ सेकेंड सोचकर बोले—"कबीर ने ? कहाँ, कौन-सा प्रयोग किया है ?" मैंने कहा—"हिंदुन की हिंदुआई देखी, तुरकन की तुरकाई।" टंडनजी ने अपनी वयोज्येष्ठता का उपयोग करते हुए कहा—"मैं हिंदू शब्द पर नहीं, इस समय हिंदी शब्द पर बोल रहा हूँ।" इसके बाद आदरणीय टंडनजी का स्वर बिगड़ना शुरू हुआ। बिगड़ते-बिगड़ते वह इतने बिगड़े कि साहित्यिक शिष्टता का ख़याल भी जाता रहा। साहित्य के मंच पर टंडनजी-जैसे प्रांत के समादृत व्यक्ति का भाषण के रूप में प्रलाप या अपलाप किसी तरह भी मार्जनीय नहीं हो सकता।

कुछ वर्तमान हिंदी-उर्दू-प्रश्नों पर विचार करने के पश्चात्, महात्माजी से मिलने का उल्लेख कर, टंडनजी पूर्ण रूप से राजनीति को प्राधान्य दे चले, जैसे सरस्वती राजनीति की दासी हो। उदार व्यक्ति साहित्य और राजनीत को बराबर महत्त्व देगा। लेकिन साहित्य के मंच पर समवेत साहित्यिकों के सामने राजनीति के महत्त्व की घोषणा उस आसन का अपमान है। टंडनजी द्वारा उस आसन के सम्मान की रक्षा नहीं हुई। इस प्रकार उन्होंने साहित्यिकों का भी अपमान किया। मैं दावे के साथ कहता हूँ, इस प्रांत में राजनीति ने जो काम किया है, उससे अधिक काम साहित्य ने किया है। साहित्यिक उनसे बड़े हैं।

टंडनजी ने एक भी शब्द हिंदी के आधुनिक साहित्य पर नहीं कहा। कम-से-कम जब तक मैं सम्मेलन में था। टंडनजी ने कहा—"आप लोगों को प्रांत के ही दायरे में नहीं रहना चाहिए।" मेरी दृष्टि में यह राजनीतिक का साहित्य-संबंधी पूरा अज्ञान था। जो साहित्य का अर्थ नहीं समझता, ऐसी बात वही कह सकता है। राजनीति भले ही किसी दायरे

में रहे, लेकिन साहित्य कभी भी दायरे की भावना में बँधकर सर्वोत्तम नहीं कहला सकता। साहित्य के सामने मनुष्य-मात्र के कल्याण का लक्ष्य है। मुझसे नहीं रहा गया। मैंने पूछा—"आप 'साहित्य' से क्या मतलब रखते हैं ?" स्मरण रहे, मैं साहित्य का शब्दगत अर्थ और व्यापक भाव लिए हुए था। टंडनजी का जवाब जो था, वह संक्षेप में यही कि साहित्य राजनीति का अनुगामी रहा है। वे हिंदी-साहित्य-सम्मेलन में आए थे या टंडन-संपूर्णानंद-नरेंद्र-सम्मेलन में, उन्हें साहित्य से सरोकार था या इन राजनीतिक महापुरुषों को खुश करने से—सहज ही अनुमेय है।

जब मैंने अपनी ही सरस्वती का अपने ही घर अपमान देखा, और उसकी प्रतिष्ठा के लिये आवाज़ उठाई, तब यह महाज्ञानी जनता-जनार्दन मेरे खिलाफ़ आवाज़ उठाने लगे—"चुप रहिए, बैठ जाइए या निकल जाइए !" वहाँ जो लोग थे, वे साहित्य चाहते थे या अपनी रोटी, बहुत साफ़ है। राजनीति ने उन्हें समझदार पुरुष बनाया है या समझदार गुलाम, स्पष्ट है।

मैं चुपचाप बरदाश्त करता रहा। इन आवाज़ लगानेवालों में स्कूल-मास्टर ही नहीं, कॉलेज के प्रिंसिपल भी थे।

टंडनजी का पारा बहुत चढ़ गया था। एक तो राजनीति और साहित्य के विवेचन में ही घिसट-घिसटकर रह गए थे, और चूँकि खुद राजनीतिक थे, इसलिये राजनीति को प्रधान बनाया था। जैसे सिर हो राजनीति, हृदय धर्म-शास्त्र और उपस्थ साहित्य।

इसी गरमी में टंडनजी यह भी कह गए—"जो चरित्रवान् नहीं, मैं उसका साहित्य नहीं छूता।" चाँद से कलंक धोनेवाले ऐसे बुद्धिमान् वक्ता को मैं देखकर ही रह गया। महात्मा-पंथी बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन चरित्र-शब्द का एक मोटा अर्थ लिए हुए भरी सभा में ऐसे बातें कह गए, जैसे वहाँ सब ढपोरशंखी थे। मेरी इच्छा हुई कि कौन चरित्रवान् है, दूसरों की तरह जिसके साथ ईश्वर के यहाँ से पाखाना और पेशाबघर लगा नहीं आया ? मैं उठा, और "ऐसी अंड-बंड बातें सुनने का मैं आदी नहीं।" कहकर, सभा छोड़कर चला आया।

सम्मेलन छोड़कर मैं बाहर आया, तो बड़ी मनोरंजिनी घटना हुई।

वहाँ कुछ स्वयंसेवक लड़के खड़े थे, उम्र सात-आठ साल से लेकर ग्यारह साल तक, देखकर मुझे टिलटिलाने लगे। मुझे हँसी आ गई, यह सोचकर कि राजनीति ने इन्हें कैसा हेकड़ बनाया है। राजनीति ने हमारे देश की जनता को ठीक ऐसा ही बनाया है। इसी समय त्रिशूलधारी, कांग्रेस के एक कार्यकर्ता महाशय, आ गए। दंडपाणि ने लड़कों को शांत किया, और मुझे एक ताँगे पर लेकर मेरी जगह, चतुर्वेदी पंडित श्रीनारायणजी के बँगले, छोड़ आए। चलते वक़्त—सम्मेलन छोड़ते वक़्त—किसी की आवाज मैंने सुनी थी—"आप ठहरिए, टंडनजी बोल चुकें, तब आप जो कुछ कहना चाहते हैं, कहिए।"

मैंने चलते हुए कहा—"कल आचार्य रामचंद्रजी शुक्ल के सभापतित्व में कहूँगा।"

टंडनजी का भाषण समाप्त होने पर लौटे हुए कुछ लोग मिले, उसी बँगले में ठहरे थे।

उनकी रिपोर्ट न लिखना ही अच्छा होगा। दुनिया का दस्तूर है, कुछ तारीफ़ करते हैं, कुछ मुख़ालफ़त। जो मेरी निगाह में पंडित थे, उन्होंने बहुत अनुकूल कुछ नहीं कहा। लेकिन मैंने यह भी सुना, किसी-किसी ने टंडनजी से कहा—"बाबूजी, आपका-ऐसा भाषण मैंने अन्यत्र नहीं सुना!"

दूसरे रोज़ एक रिपोर्ट और मिली। कवि श्री० 'चोंच' ने टंडनजी को बहुत तंग किया; बल्कि, क़ायदे की चोंचों से टंडनजी घबरा गए, और विषय-निर्वाचिनी छोड़कर चलने को हुए। लोगों के समझाने पर रहे।

दूसरे दिन कुछ ऐसा वातावरण बन गया था कि मुझे स्नेह करने-वालों ने सम्मेलन जाने से रोका। सम्मेलन का समय आया, एक-एक कर लोग चलने लगे। कुछ देर में मैं अकेला बँगले में रह गया। मैं इसलिये नहीं गया कि उस रोज़ के सभापति आचार्य शुक्लजी की तबियत कुछ ख़राब हो गई थी। वह डॉक्टर के यहाँ ले जाए गए थे, लौटे नहीं थे। मैंने सोचा—"अगर शुक्लजी नहीं गए, तो जाना व्यर्थ है। मुझे कुछ भाषण देने की आदत नहीं।"

दवा कराकर शुक्लजी लौटे। मैं उनके कमरे गया। पूछने पर मालूम

हुआ, शुक्लजी पर दमे का दौरा-ऐसा हो जाया करता है, कुछ ठहरकर शुक्लजी जायँगे। उन्होंने मुझे अग्रवर्ती होने के लिये भी कहा। मोटर तैयार था, मैं बैठ गया, और सम्मेलन आया। शुक्लजी की अनुपस्थिति में टंडनजी सभापतित्व कर रहे थे। टंडनजी के सामने, मंच पर, सभापति के आसन के नीचे, मैं बैठ गया—लोगों के वहीं बैठने का इशारा करने पर। कुछ देर बाद शुक्लजी भी आए, और टंडनजी की बगल में बैठे।

आचार्य केशवप्रसाद मिश्र का भाषण हो रहा था, भाषा और लिपि-विज्ञान पर। सम्मेलन की समस्त बनी बातों में आचार्य केशवप्रसाद मिश्र का भाषण सर्वोत्तम था—जहाँ तक विद्वत्ता का सवाल था।

फिर दो-तीन पेपर पढ़े गए। इसके बाद मेरी बारी आई। पहले से लिखकर कम-से-कम समय में मेरा भाषण निश्चित किया जा चुका था। जब घोषणा की गई कि अब अमुक के बाद 'निराला'जी बोलेंगे, त्रिशूल-धर रंजित-खद्दरपोश लोकरंजन के लिये गद्गद होकर बोले—"पहले 'निराला'जी अपने कल के कार्य-क्रम के लिये प्रायश्चित्त करें, तब बोलें।" लोगों ने सुना। उनकी ख़ामोशी का अर्थ जो हो!

मेरे बोलने के पहले पंडित श्रीनारायणजी चतुर्वेदी ने उठकर लोगों को मेरा परिचय दिया। उनके परिचय में यद्यपि अतिशयोक्ति थी, मुमकिन, सहजोक्ति हो, फिर भी मेरे लिये उनके शब्द हितकर हुए; क्योंकि जनता एकाग्रचित्त हो गई। मेरे लिये सुभीता हुआ। मैंने आदरणीय शुक्लजी और माननीय टंडनजी तथा उपस्थित सज्जनों को संबोधित कर भाषण शुरू किया। मुख्य दो विषय थे—साहित्य का मतलब और आज की बड़ी राजनीति के मुक़ाबले का साहित्य।

मैंने कहा—"साहित्य दायरे से छूटकर ही साहित्य है। साहित्य वह है, जो साथ है। साहित्य लोक से—सीमा से—प्रांत से—देश से—विश्व से ऊँचा उठा हुआ है, इसीलिये वह लोकोत्तरानंद दे सकता है। ऐसा साहित्य मनुष्य-मात्र का साहित्य है......।" मैंने अपने एक गीत की कुछ पंक्तियाँ सुनाईं। इस भाषण के संबंध में मंच पर ही कुछ विद्वानों की अनुकूल राएँ रहीं। आज मेरे प्रति लोगों में सहानुभूति थी।

पिछले पहर 'हिंदी'वाला प्रस्ताव ! वोट लिया गया, प्रस्ताव स्थगित होने के पक्ष में मत अधिक, पर हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग पूरी गुट-बंदी से आया था। विषय-निर्वाचनी से मेरा नाम निकाला जा चुका था, पर प्रस्ताव पास होने में अड़चन पड़ रही थी। अंत में उन्होंने सत्य-धर्म की शरण ली। आख़िर प्रस्ताव हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के प्रताप से पास हो गया।

शाम को आचार्य नरेंद्रदेव के मकान पर दावत थी। बीच में टंडनजी बैठे थे। मेरी और दुलारेलाल भार्गव की बातें उन तक पहुँच रही थीं। मैंने मित्रवर भार्गवजी से कहा—"हिंदीवालों के एक अदृश्य दुम लगी हुई है।" 'अदृश्य दुम' पर कुछ देर तक वाद-विवाद होता रहा। टंडनजी निर्विकार चित्त से सुन रहे थे। इसके बाद किसी प्रसंग पर मैंने कहा—"अगर सम्मेलन ने (या राजनीतिकों ने, मैंने कहा था या नहीं) हिंदुओं में मुर्ग़ी खाने का प्रचार किया होता, तो हिंदू-मुस्लिम-युनिटी अब तक बहुत मजबूत हो चुकी होती।"

दिए हैं मैंने जगत को फूल-फल,
किया है अपनी प्रभा से चकित चल,
पर अनश्वर था सकल पल्लवित पल,
ठाठ जीवन का वही, जो ढह गया है।
बह रही है हृदय पर केवल अमा,
मैं अलक्षित हूँ—यही कवि कह गया है।
स्नेह-निर्झर बह गया है।

प्रयाग में !

प्रयाग में था, लूकरगंज में, पं० वाचस्पति पाठक के यहाँ। 'लीडर प्रेस' में 'निरुपमा' बेचने गया था। जाड़े के दिन। १९३६ का प्रारंभ। चाय पीने की लत है। चाय के साथ हिंदू मिठाई, फल, टोस्ट वग़ैरा खाते हैं, मैं अंडे खाता हूँ—बायल्ड; हाफ़-बायल्ड या पोच, समय रहा, तो आमलेट; अंडे बतख के नहीं, मुर्ग़ी के। पाठक की मा मुर्ग़ी का पर देख लें, तो मकान छोड़ दें, लिहाजा सुबह उठकर स्टेशन जाता था, एक मुसलमान की दूकान में, पाठक देखते थे, मैं खाता-पीता था।

जाते-आने रास्ते में बातचीत होती थी, तरह-तरह की। पाठक मुझसे ग्यारह-बारह साल छोटे हैं। इस समय, अट्ठाईस और चालीस की पटरी बैठ सकती है; उस समय जब पाठक पाँच के और मैं सत्रह का था, अवश्य कोई साम्य न रहा होगा। मैं 'जुही की कली' का कवि था, और पाठक पहली किताब के पाठक। लेकिन पहलेपहल जब मेरी पाठक से मुलाक़ात हुई, काशी में—मैं तीस का और पाठक अट्ठारह के, वह मेरे घनिष्ठ, कवि-प्रिय मित्र होकर मिले। मेरी विशेषता मेरे काशी जाने से पहले पहुँच चुकी थी, इसलिये अपने एक मित्र के यहाँ, जिन्होंने एक वेश्या को पत्नी-रूप से रखकर सामाजिक श्रेय प्राप्त किया—बड़े भगवद्-भक्त हैं—मुझे मछली पकवाकर खिलाई।

एक रोज़ जब लूकरगंज से हम लोग स्टेशन की तरफ़ चले, उन्होंने मुझसे पूछा—"कला क्या है ?"

मैंने कहा—"कुछ नहीं।"

पाठक उड़ी निगाह से मुझे देखने लगे। मालूम नहीं, क्या सोचा। मुमकिन, जैसा सब सोचते हैं, उन्होंने भी सोचा हो।

मैंने फिर कहा—"जो अनंत है, वह गिना नहीं जा सकता, इसलिये 'कुछ नहीं' कहा। कला के दो-चार, दो-चार सौ, दो-चार हज़ार, दो-चार लाख, दो-चार करोड़ रूप ही बतलाए जा सकते हैं। पर इससे कला पूरी-पूरी न बतलाई गई। पर एक बोध है, उसका स्पष्टीकरण किया जा सकता है, इसी को साहित्यिकों ने 'सत्य,' 'शिव' और 'सुंदर' कह-कर अपनाया है।

फिर हिंदी के भिन्न-भिन्न अंगों की बातचीत होती रही। हिंदी-भाषियों का मस्तिष्क दुर्बल है, रूढ़ि-ग्रस्त होने के कारण वहाँ नवीन विचार-धारा जल्द नहीं प्रवेश पाती, यद्यपि भारतीय समस्त साहित्य का इतिहास समस्त प्रकार की मौलिकता लिए हुए है। हिंदी का समाज-संस्कार अनुरूप न होने के कारण उपन्यास उच्चता तक नहीं पहुँच रहे। काव्य, कहानी, प्रबंध, नाटक—इन सबका लेखक, जो मनुष्य है, वह अनेक रूपों में अभी विकसित नहीं हुआ। बड़ी कमज़ोरियाँ हैं। फलतः साहित्य अभी साहित्य नहीं हो सका। मैं कहता गया, ये सब नाई हैं, अपनी बरात में ठाकुर बने हुए। कुछ नाम भी गिनाए, कलकत्ते से लाहौर तक। तब तक स्टेशन आ गया। मेरा मुसलमान दूकानदार आदर की दृष्टि से मुझे देखकर अंडे फोड़ने चला। अंडे उबाले हुए रक्खे थे; मैं बैठ गया। पाठक वहीं दो-चार क़दम इधर-उधर टहलते रहे। कुछ और भी चाय पीनेवाले मुसलमान सज्जन थे।

एक दुबले-पतले प्रायः पचास साल के मुसलमान सज्जन ग़ौर से मुझे देखते रहे। उनकी आँखों के आश्चर्य का मैं चुपचाप आनंद लेता रहा। अंत में उनसे न रहा गया, पूछा—"जनाब पंजाबी हैं ?"

मैंने सोचा, जितनी कम मिहनत हो, अच्छा है। कहा—"जी।"

उन्होंने पूछा—"कारोबार करते हैं ?"

मैंने कहा—"जी।"

उन्होंने पूछा—"यहीं ?"

मैंने कहा—"नहीं, लखनऊ में।" मैं अंडेवाली प्लेट उठाकर काँटे से खाने लगा। प्रश्नकर्ता को अभी पूरी-पूरी दिलजमई न हुई थी।

पूछा—"काहे का कारोबार करते हैं ?"

मैंने विना विचार किए कह दिया—"रेशम का।"

ज्यों मुसलमान सज्जन का आश्चर्य बढ़ा, त्यों ही मैंने भी सोचा—"यार पंजाब में रेशम की पैदावार कहाँ होती है, कारखाने कहाँ हैं, यह तो नहीं मालूम; उधर से पश्मीने आते हैं, जानता हूँ। पेशावर, कश्मीर वग़ैरा के पश्मीने मशहूर हैं।" बदलकर बोला—"लेकिन मैं स्वीज़रलैंड से रेशम मँगाता हूँ।" कहकर मैं गंभीर भाव से अंडे खाने लगा। सोचा—"स्वीज़रलैंड एक सुंदर देश है, वहाँ रेशम ज़रूर बनता होगा, और न भी बनता हो, तो क्या?—मियाँ ख़त व ख़ाल से मालूम देते हैं, उन्होंने स्वीज़रलैंड का नाम पहलेपहल सुना है।"

"जनाब का इस्म शरीफ़?"

एक बार 'इस्म शरीफ़' शब्द से बड़ा धोखा खाया था; सोचा था, यह 'दौलतख़ाने' का पर्यायवाची है, लेकिन जैसा धोखा मैंने खाया, जवाब सुनकर वैसा ही पूछनेवाले ने। मेरे विशुद्ध संस्कृत में दिए स्थान-परिचय को उन्होंने नाम-परिचय समझा। तब मैं मेदिनीपुर में रहता था। जानता था, 'पुर' कहूँगा, तो मेरी तरह ये संशय में न रहेंगे। कहा—"मेदिनीदल।" उन्होंने 'जुझारमल' की तरह का एक नाम यह भी होगा, सोच लिया।

इस बार जल्दी-जल्दी मुसलमानी नाम याद करने लगा, तो एक भी नाम न आया। पेट में, 'महम्मद-महम्मद' हो रहा था, लेकिन कहने की हिम्मत नहीं पड़ती थी। बंकिमचंद्र की याद आई, उन्होंने अपने एक हिंदू पात्र से 'महम्मद' के नाम एक प्रेम-पत्रिका शाही कैंप में भिजवाई है, इस निश्चय से कि इस नाम का कोई सैनिक अवश्य होगा। वहाँ कई महम्मद निकले। एक दूसरे से लड़ने लगे। नाम बताने में ज़रा भी देर शंका पैदा करती है। मुझे नाम तो न याद आया, पर समझ ने साथ न छोड़ा।—मुँह का अंडा निगला जा चुका था, पर मैं मुसलमान सज्जन की ओर मुँह किए विराट् रूप से मुँह चलाए जा रहा था। सिर हिलाता हुआ उन्हें आश्वासन दे रहा था कि ज़रा देर ठहर जाइए। फिर भी नाम न आया। अंत में बड़ी मुश्किल से एक शब्द याद आया, पर वैसा नाम मैंने स्वयं कभी नहीं सुना। उधर मियाँ का धैर्य छूट रहा था—मेरी पाँगुर बंद नहीं हो रही थी।

मैंने कहा—"जनाब मुझे वकूफ़हुसेन कहते हैं।" मियाँ उसे और मुलायम करके बोले—"उकूफ़हुसेन ?"

मैंने कहा—"जी।"

मियाँ बढ़े। मैंने चाय पीना शुरू किया। पाठक पीछे थे। शायद सामने से ज्यादा हँसी आती थी।

जब चाय पीकर, दाम देकर चला, तब, रास्ते में, पाठक ने मुझसे कहा—"आपने 'वकूफ़' शब्द का एक अक्षर छोड़ क्यों दिया ?"

मैंने बैसवाड़ी में कहा—"तुम थे, इसलिये।"

आखिर संन्यास लिया !

उन दिनों ज्यादा बातचीत नहीं करता था, मौन रहता या अपने आप से बोलता रहता था। अपना अलग हिसाब-किताब रखता था, न किसी का राज लेता, न अपना देता। हमने वस्त्रों से तो नहीं, पर मन से वैराग्य ग्रहण कर लिया। विजयादशमी से वस्त्रों में गेरू का रंग चढ़ा। महादेवीजी का आग्रह था कि हम संसद[1] में रहें। हमने स्वीकार कर लिया। इस बीच हम घायल हो गए। रायबरेली के अस्पताल में थे। उँगलियाँ बिलकुल मुर्दा हो गई थीं। बस, नाक ऊँची रही। घायल होने का कारण और कुछ नहीं, दूसरे का सूत उलझा होगा।

हमने संन्यास ले लिया क्वार सुदी एकादशी को। उसी अपने बँगले में संन्यास लिया। कुछ दिन में घर छोड़ा। हिसाब लाखों का छोड़ा। सोचा, अब ठीक है। जहाँ पहुँचेंगे, किसी नीम-पीपल के नीचे बैठ जायेंगे। दो रोटियाँ माँगकर खा लेंगे, और गीत लिखने लगेंगे। लेखनी को लेकर जो हाथ उठा था, अब वह माला की सुमिरिनी पकड़ना चाहता था।

हुए दुर्बल क्रमशः ये हाथ,
दूसरे और न कोई साथ !
दुखता रहता है अब जीवन—
पतझड़ का जैसा वन-उपवन !
भग्न तन, रुग्ण मन, जीवन विषण्ण बन !
व्यर्थ हुआ जीवन यह भार !
देखा, संसार वस्तुतः असार।

●

---

१. साहित्य-संसद-भवन, प्रयाग।

फ़ाक़ेमस्ती के दिन

देखा एक दुखी निज भाई,
दुख की छाया पड़ी हृदय पर,
झट उमड़ बेदना आई ;
मैंने 'मैं' शैली अपनाई !

बारह साल तक मकड़े की तरह शब्दों का जाल बुनता हुआ मैं मक्खियाँ मारता रहा। मुझे यह ख़याल था कि मैं साहित्य की रक्षा के लिये चक्र-व्यूह तैयार कर रहा हूँ, पर लोगों को अपने फँस जाने का डर होता था, इसलिये इसका फल उल्टा हुआ। जब मैं उन्हें साहित्य के स्वर्ग चलने की बातें कहता था, तब वे अपने मरने की बातें सोचते थे, यह भ्रम था। इसीलिये मेरी क़द्र नहीं हुई। मुझे बराबर पेट के लाले रहे। पर फ़ाक़े-मस्ती में भी मैं परियों के ख्वाब देखता रहा—इस तरह अपनी तरफ़ से मैं जितना लोगों को ऊँचा उठाने की कोशिश करता गया, लोग उतना मुझे उतारने पर तुले रहे।

मैंने दूसरे मित्रों को देखा। वे पहले फटीचर थे, पर अब अमीर हो गए हैं, दोमंज़िला मकान खड़ा कर लिया है, मोटर पर सैर करते हैं। मुझे देखते हैं, जैसे मेरा-उनका नौकर-मालिक का रिश्ता हो। नक्की स्वरों में कहते हैं—"हाँ, अच्छा आदमी है, ज़रा सनकी है।" वे उतनी दूर बढ़ गए हैं, मैं जिस रास्ते पर था, उसी में खड़ा हूँ। मैं कविता लिखने की कोशिश करके ही बिगड़ा हूँ।

एक दिन होटल★ के बरामदे में एक आराम-कुरसी पर पैर फैलाकर लेटा हुआ इस तरह के विचारों से मैं अपनी क़िस्मत ठोंक रहा था। बड़े होने के खयाल से मेरी नसें तन गईं। सड़क की तरफ़ बड़े गर्व से देखा। मेरी नज़र एक स्त्री पर पड़ी। उसे देखते ही मेरे बड़प्पनवाले भाव उसी में समा गए, और फिर वही छुटपन सवार हो गया। उस स्त्री की बाबत पूछा, पता चला, वह पागल है, और गूँगी भी। हम लोगों की थालियों से बची रोटियाँ उसे दे दी जाती हैं। उसका बच्चा रास्ते के ख्वाहिशमंद का सबूत है। मेरी बड़प्पनवाली भावना को इस स्त्री के भाव ने पूरा-पूरा परास्त कर दिया। मेरी आँखों को उसमें वह रूप देख पड़ा, जिसे मैं कल्पना में लाकर साहित्य में लिखता हूँ।

पगली का ध्यान मेरा ज्ञान हो गया। एक दिन शहर में पल्टन का प्रदर्शन हो रहा था। मैं बरामदे में नंगे बदन खड़ा सिपाहियों को देख रहा था। मेरी तरफ़ देखकर सिपाही मुस्किराए।

मेरे बालों के बाद मुँह की तरफ़ देखकर लोग मुझे 'मिस फ़ैशन' कहते थे। थिएटर, सिनेमा में यह संबोधन दशाधिक बार एक ही रोज़ सुनने को मिला था। रास्ते पर भी छेड़खानी होती थी। मैं कुछ बोलता नहीं था, क्योंकि सबसे अच्छा जवाब था, बालों को कटा देना, पर ऐसा करता, तो दूसरे को समझ की खूराक न मिलती। मैं सोचता हूँ—"आवाज़ कसनेवालों पर एक हाथ रक्खूँ, तो छठी का दूध याद आ जाय।" सिपाही भी 'मिस फ़ैशन' से खुश हो रहे थे। मेरे ग्रीक-कट पाँच फ़ुट साढ़े ग्यारह इंच लंबे, ज़रूरत से ज्यादा चौड़े और चढ़े मोढ़ों के कसरती बदन को देखकर किसी को आतंक नहीं हुआ।

कई महीने हो गए। आदान-प्रदान से पगली की मेरी गहरी जान-पहचान हो गई। मेरी उसकी घनिष्ठता बढ़ गई। वह मुझे अपना परम हितकारी मानने लगी।

एक दिन हम लोग ब्लैक कुइन खेल रहे थे। शाम को पानी बरस चुका था। हम लोगों ने खाना खाकर खेल शुरू किया था। फ़ुटपाथ पर मेज़ और कुर्सियाँ डाल दी गई थीं। दस बज चुके थे। पगली बच्चे को

★ भार्गव-मैजेस्टिक होटल, लखनऊ।

सुलाकर कहीं बाहर गई थी। उसका बच्चा सोता हुआ, करवट बदलकर, दो हाथ ऊँचे बरामदे से नीचे फ़ुटपाथ पर आ गिरा, और ज़ोर से चीख उठा। मेरे साथ के खिलाड़ी आलोचना करने लगे। मैंने उस बच्चे को दौड़कर उठा लिया। मेरे एक मित्र ने कहा—"अरे, यह गंदा रहता है।" मैं गोद में लेकर उसे हिलाने लगा। उतनी चोट खाया हुआ बच्चा चुप हो गया, क्योंकि इतना आराम उसे कभी नहीं मिला था। वह सुख की गोद में पलकें मूँदकर सो गया। मैंने उसे सावधानी से सुला दिया।

एक रोज़, रात बारह बजे, ज़ोरों का जाड़ा। रास्ते से पिल्ले की-सी कूँ-कूँ सुन पड़ी। मैं एक कहानी समाप्त करके सोने का उपक्रम कर रहा था। होटल में और सब लोग सो चुके थे। मैं नीचे रास्ते के सामनेवाले कमरे में रहता था। होटल का दरवाज़ा बंद हो चुका था, पर मैं अपना दरवाज़ा खोलकर बाहर गया। देखता हूँ, एक पाया हुआ मामूली काला कंबल ओढ़े, बच्चे को लिए, पगली फ़ुटपाथ पर पड़ी थी। हाड़ तक छिद जानेवाले जाड़े से काँपकर वह करुण स्वर से रो रही थी। ज़मीन पर एक फटी-पुरानी, ओस से भीगी कथरी बिछी, ऊपर पतला कंबल। मेरे पास जो ओढ़ना था, वह मेरे लिये भी ऐसा नहीं कि खुली जगह सो सकूँ। ईश्वर ने मुझे केवल देखने के लिये पैदा किया है। कुछ दिनों बाद होटल तोड़ दिया गया। मुझे खयाल आया, अब पगली की रोटियाँ भी गईं। मैं किराए के दूसरे मकान में चला आया। मेरे साथ मेरे मित्र कुँअर साहब* भी आए। एक रोज़ पगली का हाल सुनकर उनके मामा साहब एक नफ़ीस बारीक कंबल दे गए। कुँअर साहब अपनी रज़ाई देने के लिये देकर बड़े दिनों की छुट्टियों में घर गए। मैं रज़ाई लेकर पगली को उढ़ा आया।

प्रयाग में एक दिन स्टेशन के अहाते में मदरासियों का एक दल बैठा हुआ देख पड़ा। इतने ही में उनमें से एक आदमी, उम्र पैंतालीस के लगभग, भौंरे का रंग, खासा मोटा-तगड़ा, एक लँगोटी से किसी तरह लाज बचाए हुए, उतने जाड़े में नंगा बदन, दौड़ा हुआ मेरे पास आया, और एक साँस में इतना कह गया कि मैं कुछ भी न समझा। मैंने फिर

* डॉ॰ कुँअर चंद्रप्रकाशसिंह।

पूछा। टूटी-फूटी हिंदी में पूरे उच्छ्‌वास से वह फिर कहने लगा। इस बार मतलब मेरी समझ में आया। वह यात्री है, मदरास का रहनेवाला। कुंभ नहाने आया था। यहाँ चोर कपड़े-लत्ते, माल-असबाब उठा ले गए। गठ-रियों में ही रुपए-पैसे थे। वह अब (अपने आदमियों के साथ) हर तरह लाचार है, दिन तो किसी तरह धूप खाकर, भीख माँगकर पार कर देता है, पर रात काटी नहीं कटती। जाड़ा लगता है। वह एक दृष्टि से मेरा मोटा खद्दर का चादरा देख रहा था। मैं विचार न कर सका, उतारकर दे दिया। वह मारे आनंद के दौड़ा हुआ अपने साथियों के पास गया, और इस महादान की तारीफ़ करने लगा, मेरी तरफ़ उँगली उठाकर बतलाता हुआ।

पाठक संसार के चक्रांत की बातें सोच रहे थे—देश दुर्दशा-ग्रस्त है, इसलिये कितने चक्कर रोज़ देशवासियों को खाने पड़ते हैं—कितने लोग उन्हें छलते रहते हैं—कितने प्रकार प्रचलित हैं। मुझसे बोले—"आखिर आपने अपना बतलाया नाम यहाँ सार्थक कर दिया न?—यह अभी दोपहर को, गुदड़ी बाजार में, चार आने में यह चादरा बेचेगा।"

मैंने कहा—"धोखा भी हो सकता है, और इसकी बात भी सच हो सकती है। यह मदरास से यह सोचकर तो चला नहीं होगा कि गुदड़ी बाज़ार में कपड़ा बेचेगा।"

पाठक अप्रसन्न होकर बोले—"मैं आपके देने का विरोध नहीं करता, लेकिन···"

मेरे पास कपड़े कम रहते हैं, कम थे, लेकिन के बाद यह इसी भाव की पूर्ति करना चाहते थे, पर रुक गए।

हम लोग लूकरगंज आए। धीरे-धीरे दो महीने बीते। लखनऊ-कांग्रेस के समय, सत्ताइस मार्च को, वह मेरे साथ लखनऊ आए, और मेरे मकान में ठहरे। धीरे-धीरे कांग्रेस का समय आया। उनके दो मित्र, जो मेरे भी मित्र हैं, आकर ठहरे। जहाँ तक बिना टिकट के देखा जा सकता था, मैंने घूम-फिरकर कई रोज देखा। दो-तीन रुपए प्रदर्शिनी देखने और महात्माजी के व्याख्यान सुनने में खर्च किए। प्रदर्शिनी के कवि-सम्मेलन में नहीं जाता, यहाँ भी नहीं गया। जो कुछ हुआ, संवाद मालूम कर

लिया । सब्जेक्ट-कमेटी की बैठकें देखने की इच्छा थी, पर वह दृश्य अप्स-राओं के नृत्य देखने से भी महँगा था । पाठक बोले—"मेरा पास लेकर देख आइए ।"

मैंने कहा—"वहाँ बहुत से लोग होंगे, जो मुझे पहचानते होंगे । फिर प्रेस-रिपोर्टरों की जगह मुझे कोई अपने पास से भी कुछ देकर बैठने के लिये कहे, तो मैं न बैठूं ।"

पाठक लड़ने लगे । बोले—"वह सबसे बढ़िया जगह होती है !"

मैंने कहा—"होगी । मैं न जाऊँगा ।"

कांग्रेस शुरू हुई । पहले दिन मैं न गया । आगे भी जाने का विचार न था । कारण, प्रेस-रिपोर्टर की हैसियत से जाना मुझे पसंद न था, और तीन दिन तक दाम खर्च कर जाने में अड़चन थी ! प्रयाग से ढाई सौ रुपए ले आया था । प्रायः सब खर्च हो चुका था, कई महीने के बाक़ी मकान-किराए और भोजन के खर्च में ।

दूसरे दिन जब कांग्रेस की बैठक शुरू होने को हुई, मेरे मकान से लोग चलने को हुए, तो मैं सोने का सुबीता करने लगा ।

जो मारवाड़ी सज्जन आए हुए थे, उन्होंने कहा—'"निराला'जी, मैं कई दिनों से देख रहा हूँ, आप बहुत सोते हैं ।"

मैंने कहा—"हाँ, यह तो है, पर जब जागता हूँ, तब पंद्रह-पंद्रह रात लगातार नहीं सोता ।"

मारवाड़ी सज्जन हँसे । बोले—"चलिए ।"

मैं बड़े संकट में पड़ा, कैसे कहूँ, मेरे पास खर्च की कमी है । कहा—"कांग्रेस में बड़ी गरमी है ।"

"हाँ, पर हवा अच्छी चलती है ।" मारवाड़ी सज्जन बड़े मजेदार आदमी मालूम दिए । मैं उनके उत्तर पर मुस्किरा रहा था, तब तक एक पच्चीस रुपए का टिकट निकालकर उन्होंने कहा—"यह टिकट आपके लिये है ।"

मैं चला । मैं और मारवाड़ी सज्जन एक ही जगह पर थे । वह जगह कुछ ऊँची थी । कुछ दूर पर बड़े-बड़े नेता और नेत्रियाँ । देखा, एक-एक छोटी मेज के पीछे प्रेस-रिपोर्टर बैठे थे । पं० दुलारेलाल भार्गव, ठाकुर श्रीनाथसिंह आदि-आदि परिचित-अपरिचित । श्रीमती कमला चट्टोपाध्याय

को मैं ग़ौर से देख रहा था। उन्हें पहले ही पहल देखा था। कभी-कभी श्रीमती सरोजिनी नायडू से बातें करती थीं, उठकर उनके पास जाकर। रह-रहकर उस समर्पण की याद आ रही थी, जो मिस्टर चट्टोपाध्याय ने अपने एक अँगरेज़ी-पद्य-संग्रह का किया है, इस तरह का—मेरे जीवन की प्रथम सूर्य-किरण 'क' को। फिर इस राजनीतिक जीवन के घोर परिवर्तन पर सोच रहा था, जहाँ दोनो एक दूसरे के काव्य के विषय नहीं—जीवन के अंतरंग नहीं, स्पर्द्धा के विषय हो गए हैं।

शाम को बाहर निकला। एकाएक एक ऊँची आवाज़ आई। देखा, एक स्वयंसेवक दौड़ा आ रहा है, स्वयंसेवक की वर्दी पहने हुए। मुझे देखकर, दोनो हाथ उठाकर फिर उसने हर्ष-ध्वनि की। मुझे ऐसा मालूम देने लगा, जैसे उसे स्वप्न में भी कभी देखा हो। मुझे पहचानता हुआ न जानकर उसने आनंद-पूर्ण लड़खड़ाती हिंदी में कहा—"मैं वही हूँ, जिसे आपने चादरा दिया था।"

मुझे कला का जीवित रूप जैसे मिला। प्रसन्न आँखों से देखता हुआ मैं तत्काल कुछ कह न सका। संयत होकर बोला—"आप कांग्रेस में आ गए, अच्छा हुआ।"

उसने कहा—"फिर मैं वहाँ स्वयंसेवकों में भरती हो गया।"

प्रसन्न-चित्त बाहर निकलकर मन में मैंने कहा—"पाठक मिलें, तो बताऊँ, कैसे गुदड़ी बाज़ार में इसने चादरा बेचा।"

कई दिन हो गए। कांग्रेस ख़त्म हो गई। पाठक वग़ैरा चले गए। मैं शाम को क़ैसरबाग़ में टहल रहा था कि वह मनुष्य मेरी ओर तेज़ क़दम आता देख पड़ा, मैं खड़ा हो गया। मेरे पास आकर उसने कहा—"अब गरमी बहुत पड़ने लगी है। देश जाना चाहता हूँ। रेल का किराया कहाँ मिलेगा? पैदल जाना चाहता हूँ।"

मैंने बीच में बात काटकर कहा—"क्या कांग्रेस के लोग आपकी इतनी-सी मदद नहीं कर दे सकते?"

उसने कहा—"नहीं, कांग्रेस का यह नियम नहीं। मैं मिला था। मुझे यह उत्तर मिला है। ख़ैर, मैं भीख माँगता-खाता पैदल चला जाऊँगा।

पर''···अपने पैरों की ओर देखकर कहा—''गरमी बहुत पड़ती है, पैर जल जाते हैं, अगर एक जोड़ी चप्पल आप ले दें।''

मुझ पर जैसे वज्रपात हुआ। मैं लज्जा से वहीं गड़ गया। मेरे पास तब केवल छ पैसे थे। इससे चप्पल नहीं लिए जा सकते। अपने चप्पल देखे, जीर्ण हो गए थे। लज्जित होकर कहा—''आप मुझे क्षमा करें, इस समय मेरे पास पैसे नहीं हैं।''

उसने वीर की तरह मुझे देखा। फिर बड़े भाई की तरह आशीर्वाद दिया, और मुस्किराकर अमीनाबाद की ओर चला। मैं खड़ा-खड़ा उसे देखता रहा, जब तक वह दृष्टि से ओझल नहीं हो गया।

क्षीण का न छीना कभी अन्न,
मैं लख न सका वे दृग विपन्न।
अपने आँसुओं अतः बिंबित
देखे हैं अपने ही मुख - चित !

दिवंगता पत्नी से पुनर्मिलन

मेरी स्वर्गीया प्रिया ने अदृश्य होकर, मुझसे मेरी पूर्ण परिणीता की तरह मिलकर दिव्य शृंगार की पूर्ति की।

पत्नी-निधन के बीस वर्ष बाद··· !

इधर नौजवानों के साथ रहने के कारण मैं एक क़दम और आगे बढ़ गया, यानी कम्युनिस्ट।

एक दिन कर्वी में, चित्रकूट के पास, शंकर के यहाँ आया। पहुँचे चौबीस घंटे नहीं हुए। गर्मियों के दिन, सुबह के सात का समय। दोमंज़िला मकान। मैं पच्छिमवाले बरामदे में चटाई पर बैठा था। उसकी आठ-नौ साल की बड़ी लड़की बैठी स्नेह से उमड़ती हुई कितनी प्रासंगिक-अप्रासंगिक बातें छेड़ रही थी। कुछ में उसकी मा का इशारा जान पड़ता था। चाय का गर्म होता पानी सनसना रहा था।

शंकर मेरा लँगोटिया यार था। एक ही जगह हम पैदा हुए, हमारी बीवियाँ शादी के बाद ससुराल के नाम से एक ही जगह आई, और रहीं। जैसी मेरी और शंकर की दोस्ती थी, मुमकिन वैसी ही इन दोनो की रही हो। अब वह परदेसवाला सहवास नहीं रहा। पर मैं और शंकर काफ़ी मिलते-जुलते रहे। परदेस छोड़ने से पहले, तार द्वारा, मेरे साथ शंकर को भी मालूम हुआ था कि मेरी स्त्री का देहांत हो गया। शंकर की बीवी के लिये मेरे संबंध में कुछ भी अज्ञात न था। मैं जहाँ तक हूँ, वह उसे और बढ़कर समझ सकती थी !

शंकर चाय नहीं पीता; इसलिये उसकी बीवी को चाय बनाना नहीं आया।

चाय का हिंदुस्तानी सेट मेरे सामने रख दिया गया ।

इसी समय जीने पर किसी के चढ़ने की आहट मिली, मंद-मंद पद-क्षेप । क्षण-भर बाद वह मूर्ति बरामदे से होती हुई उस कमरे की ओर चली, जो रसोई से लगा था । मुझे जान पड़ा, एक युग बदल गया । ऐसी शांत दृष्टि और मंद गति मैंने नहीं देखी, जैसे इस स्त्री की विश्व की समस्त प्रकृति पर विजय हो, जैसे यह सब कुछ जानती है, और बिना कहे बहुत कुछ कह रही है, और रूप ?......मेरे रोएँ खड़े हो गए । उसी वक़्त मेरे मन में आया, यह मेरे मन की मूर्ति है, कभी मेरे मन से बाहर नहीं निकली ! सँभलकर भी मैं न सँभल सका ।

वह स्त्री शंकर की स्त्री से दो मिनट बातचीत करके, उसकी लड़की की पढ़नेवाली किताब हाथ में लिए, बाहर निकली । वैसी ही शांत चितवन !

यह जीने से उतरने को हुई । मैं उस स्त्री को देखता रहा । उसने भूल-कर भी मुझे नहीं देखा, फिर भी जैसे मेरा सब कुछ देख लिया हो । मुझे ऐसा जान पड़ा, जैसे मेरा कुल स्वत्व इसने खींच लिया । अब यह जवान नहीं, अधेड़—आधे बाल पक चुके, चेहरे पर कुछ झुर्रियाँ भी पड़ रही हैं, पर कितनी दृढ़ता ! उसमें (मेरी पत्नी में) ऐसी दृढ़ता नहीं थी, सिर्फ़ चेहरा मिलता है । बीस साल हो गए । तब इसकी मुश्किल से बीस साल की उम्र थी । लेकिन, वह मर चुकी है, और यह ज़िंदा है । मुझे जंग लग गया ।

यह वही प्रकृति, पर रूप अन्य ;
जगमग-जगमग सब वेश वन्य ।

★

कितने वर्णों में, कितने चरणों में तू उठ खड़ी हुई,
कितने छंदों में, कितने इंदों में तेरी लड़ी गई,
कितने ग्रंथों में, कितने पंथों में देखा, पढ़ी गई—
तेरी अनुपम गाथा ।
मेरे कवि ने देखे तेरे स्वप्न सदा अविकार !

❁

इतिश्री

इस समय तुलसीदास की याद आ रही है, जिन्होंने लिखा है—

"जो अपने अवगुन सब कहऊँ, बाढ़ै कथा पार ना लहऊँ ;
ताते मैं अति अल्प बखाने, थोरे मँह जानिहैं सयाने ।"

...."वैसे ही मैंने अपना सर्वस्व गँवाया !"

*

"पत्रोत्कंठित जीवन का विष बुझा हुआ है,
आशा का प्रदीप जलता है हृदय - कुंज में,
सिद्ध - योगियों - जैसे यह साधारण मानव
ताक रहा है भीष्म - शरों की कठिन सेज पर।
बीत चुका है दिक् - चुंबित चतुरंग काव्य-गति,
यतिवाला, ध्वनि, अलंकार, रस - राग - बंध के,
वाद्य छंद के। रणित गणित छुट चुके हाथ से,
क्रीड़ाएँ पीड़ा में परिणत। महल - महल की
मारें मूर्च्छित हुईं। निशाने चूक गए हैं।
झूल चुकी है खाल—ढाल की तरह तनी थी।
पुनः सवेरा एक और फेरा है जी का।"

*

वृद्ध मैं अब ऋद्धि की क्या ?
साधना की सिद्धि की क्या ?
जो चढ़ी थी आँख मेरी
बज रही थी जहाँ भेरी !
वहाँ सिकुड़न पड़ चुकी है...।
आग सारी फुंक चुकी है
रागिनी वह रुक चुकी है,
स्मरण में है आज जीवन !"

*

देख चुका जो - जो आए थे
चले गए !
मैं ही क्या, सब ही तो ऐसे
छले गए !
मेरे प्रिय, सब बुरे गए, सब
भले गए !

★

मन का समाहार, करो विश्वाधार !
कोई नहीं और, एक तुम हो ठौर
दूर सब जन पौर, करो भव से पार !

उद्धरणी

('आत्मकथा' की आधारभूत कृतियों के संदर्भ-स्थलों का सूत्र-संकेत)

१. 'दुख ही जीवन की......।' पृष्ठ १, सरोज-स्मृति (अपरा)
२. 'अथ कथामुखम्—पत्रांश ('निराला' द्वारा आचार्य द्विवेदी के प्रति लिखित), चतुरी चमार, अनामिका : प्राक्कथन, कुल्ली भाट, मनसुखा का उत्तर (चयन), देवी : भूमिका, अलका : वेदना, मेरे गीत और कला, गांधीजी से बातचीत (प्रबंध-प्रतिमा), स्नेह-निर्झर, सरोज-स्मृति, हिंदी के सुमनों के प्रति (अपरा)
३. बचपन की मारें—कुल्ली भाट
४. मेरी पहली ससुराल-यात्रा—सुकुल की बीबी, भौन कवि (चाबुक), कुल्ली भाट, प्रभावती
५. रूह की मालिश—कुल्ली भाट
६. सासुजी की बेटी—कुल्ली भाट
७. प्रवेशिका के द्वार तक—सुकुल की बीबी
८. राजा की नौकरी—कुल्ली भाट
९. हिंदी पढ़ी—कुल्ली भाट, मेरे गीत और कला, कुकुरमुत्ता
१०. स्वर्गीया प्रिया मनोहरादेवी—काव्य-साहित्य (चाबुक), कुल्ली भाट, गीतिका : समर्पण
११. वंश-नाश—हताश(अनामिका), कुल्ली भाट, सुकुल की बीबी, ध्वनि(अपरा)
१२. जीवन चिरकालिक क्रंदन—राम की शक्ति-पूजा (अपरा), देवी, कुल्ली भाट, सरोज-स्मृति।
१३. मित्रवर कुल्ली—कुल्ली भाट
१४. कालांतर—बेला, नए पत्ते
१५. मेरी पहली रचना—हिंदी के सुमनों के प्रति, कुल्ली भाट, मेरे गीत और कला, सरोज-स्मृति
१६. 'समन्वय', 'मतवाला' और 'रंगीला'—पंतजी और पल्लव (प्रबंध-पद्म), साहित्यिक सन्निपात या 'वर्तमान धर्म' (प्रबंध-प्रतिमा)
१७. महिषादल में—अणिमा, स्वामी शारदानंदजी महाराज और मैं (चतुरी चमार), सुकुल की बीबी, चाबुक : निवेदन, नेहरू से दो बातें (प्रबंध-प्रतिमा), रंगीला : आवरण-पृष्ठ, अनामिका : समर्पण, मैं अकेला (अपरा) एवं पत्रांश
१८. कुंवर का ब्याह—सुकुल की बीबी
१९. चरखा-विवाद—चरखा (प्रबंध-प्रतिमा), निराला की साहित्य-साधना—१

२०. रंगमंच पर—नाटक-समस्या (प्रबंध-प्रतिमा), पत्रांश (नागरी-पत्रिका : रंगमंच-शताब्दि-विशेषांक)

२१. गढ़ाकोला में—चतुरी चमार, कुल्ली भाट, श्रीनंददुलारे वाजपेयी (चाबुक), पत्रांश

२२. छतरपुर में तीन सप्ताह—चयन, अर्चना

२३. मेरे 'अमित्र' महाशय—पंतजी और पल्लव, प्रांतीय साहित्य-सम्मेलन, फ़ैज़ाबाद, मेरे गीत और कला, सरोज-स्मृति

२४. साहित्यिक सन्निपात—साहित्यिक सन्निपात या 'वर्तमान धर्म' साहित्यिकों और साहित्य-प्रेमियों से निवेदन (संग्रह), दे मैं करूँ वरण (अपरा)

२५. चपत का जवाब घूँसा—कला के विरह में जोशी-बंधु (प्रबंध-प्रतिमा), साहित्यिक सन्निपात या 'वर्तमान धर्म', पंतजी और पल्लव

२६. अनंतर—पतनोन्मुख (परिमल)

२७. मैं निरर्थक पिता—चतुरी चमार, पत्रांश, गहन है अंधकारा (अपरा), सरोज-स्मृति

२८. खंडित कर डाला भाग्य-अंक—कुल्ली भाट, प्रभावती : समर्पण, मौन कवि, सरोज-स्मृति

२९. हिंदी बनाम हिंदुस्तानी—गांधीजी से बातचीत, नेहरूजी से दो बातें, प्रांतीय साहित्य-सम्मेलन, फ़ैज़ाबाद, 'निराला' की साहित्य-साधना(पत्रांश)

३०. अवांतर—वनबेला (अपरा)

३१. छायावाद की विद्रोहात्मक काव्य-धारा में—सरोज-स्मृति, श्रीनंददुलारे वाजपेयी, पत्रांश (निराला की साहित्य-साधना), श्रीमती गजानंद शास्त्रिणी (सुकुल की बीबी), मनसुखा का उत्तर, प्रांतीय साहित्य-सम्मेलन, फ़ैज़ाबाद, मेरे गीत और कला, उक्ति (अपरा)

३२. सरस्वती राजनीति की दासी नहीं—प्रांतीय साहित्य-सम्मेलन, फ़ैज़ाबाद, स्नेह निर्झर बह गया है !

३३. प्रयाग में—कला की रूप-रेखा (सुकुल की बीबी)

३४. आखिर संन्यास लिया—पत्रांश, स्मृति (अपरा), आराधना, गीतिका

३५. फ़ाक़ेमस्ती के दिन—अधिवास (परिमल) देवी, कला की रूप-रेखा, सरोज-स्मृति

३६. दिवंगता पत्नी से पुनर्मिलन—गीतिका : समर्पण, जानकी (देवी) प्रिया से (अनामिका)

३७. इतिश्री—कुल्ली भाट, सांध्यकाकली, विफल वासना-उक्ति (परिमल), आराधना एवं 'क्वचिदन्यतोऽपि' !

विशिष्ट आंचलिक शब्द

पृष्ठ ६—खेंड़=पास-पड़ोस, ७—डोल=जल-पात्र विशेष, ८—पासी=एक अछूत जाति, ९—मसें=श्मश्रु, ११—गुड़ीगुड़ंता=गुड़मुड़ा जाना, १४—भूभुल=गर्म धूलि, २५—गवहीं-गौना=एक वैवाहिक प्रथा, ५१—पस्त-लत्ता=श्लथ, अस्त-व्यस्त, ५२—कतकी=कार्त्तिकी पूर्णिमा का गंगा-स्नान, तिदरे=तीन बरामदों से जुड़कर बना स्थान, ५४—दाग, सपिंडी=अंत्येष्टि के लोकाचार, ५६—काट—ढंग, ५७—अँट=समा सकना, पहुँच पाना, ६१—फुट्टफैर=स्फुट फ़ायर, ७१—दौंगरा=बौछार, ७४—बाट=किनारा, ८१—भगत=चमारों का भक्ति-प्रधान सामूहिक गायन, ८२—लोध=जाति विशेष, दोपट=दोगुना, पानीपाँड़े=प्याऊ का महराज, ८४—खूसट=जरा-जीर्ण, मनहूस, पग्गछौर=पगड़ी और तिलक, बे० मे०=बी० ए०, एम्० ए०, लागन=घातक, ८८—गड़हे=छोटे-गँदले तालाब, १०६—चोपी=आम के मुँह पर से निकलनेवाला तेज़ाबी रस, ११२—कसौली=कुत्तों का खौरा या खुजली, १२३—दुचित्ते=द्विविधा-ग्रस्त, १२५—बंडी=जाकेट, जर्सी-जैसा वस्त्र, १५६—कथरी=कंथा ।

स्थान विशेष—चौरासी (४९), अंतर्वेद (५३), बेहटा (१३), जगतपुर (२८) पुरवा, मगरायर (८६), बैंती (११३) आदि बैसवाड़े के विशिष्ट स्थान ।

सूचनार्थ—विशेष जानकारी-हेतु द्रष्टव्य 'निराला के साहित्य में आंचलिक तत्त्व'—डॉ० सूर्यप्रसाद दीक्षित, 'कविताश्री' (कलकत्ता) फ़रवरी, ६९ का अंक ।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
३	विश	विश्व
९	थे	ये
१२	ठकाका	ठहाका
१४-१५	ब्लमक-परिचय पाद-टिप्पणी-रूप में पठनीय	
२२	विना	बिना
२८	सूयप्रभवा	सूर्यप्रभवा
३८	बढ़ा	उगा
६१	एअरमन	एअरमैन
६९	मेला	भेला
७०	जान	जाने
,,	जाग्रत	जागृति
७५	बीवी	वीथी
७८	मुक्तक	मुक्त
८०	हसार	हिसार
८९	परामश	परामर्श
११६	'बापू से दो बातें' शीर्षक-निरस्त्य	
११७	पात्रों	पत्रों
१२२	नकी	उनकी
१२७	वोलने	बोलने
१३५	चीत्कारोत्काल	चीत्कारोत्पल
१३९	उपाव्याय	उपाध्याय
१४८	या	याद
१४८	अलसित	अलक्षित

ज्ञातव्य—अध्यायों के आदि-अंत में दिए गए काव्योद्धरणों के पार्थक्य-सूचक चिह्न (*) कहीं-कहीं रह गए हैं। अन्यत्र प्राप्य विराम-चिह्नों की त्रुटि परिमार्जनीय है।

23/III/75

Nirra Ca

Central Archaeological Library,
NEW DELHI. 49283

Call No. 928.54/Nir/Dik

Author— Dikshit, Suryaprasad

Title— Nirala ki atmakatha-a

Date of Return

"A book that is shut is but a block"

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY
GOVT. OF INDIA
Department of Archaeology
NEW DELHI

Please help us to keep the book clean and moving.